

**THE BOOK WAS
DRENCHED**

**TEXT FLY WITHIN
THE BOOK ONLY**

UNIVERSAL
LIBRARY

OU_180047

UNIVERSAL
LIBRARY

OSMANIA UNIVERSITY LIBRARY

Call No. H83.1/853K Accession No. J.H.2198

Author झाँसी, जानकीवल्लभ

Title कानन 1/1940

This book should be returned on or before the date
last marked below.

ज्ञान

श्री जानकीवल्लभ शास्त्री

[काकली, वन्दीमन्दिर, रूप औ' अरूप,
साहित्य-दर्शन, खेवा, अपर्णा, सप्तपर्ण,
आदि काव्य, आख्यान तथा प्रबन्ध-
संबन्धी पुस्तकों के प्रणेता]

प्रकाशक

पुस्तक - भंडार

लहेरियासराय

(सर्वाधिकार स्वरक्षित)

जून, १९४०
प्रथम-संस्करण
१०००

मुद्रक—ना० रा० सोमण
श्रीलक्ष्मीनारायण प्रेस, जतनवर
बनारस

का न न

“प्रभाते जागिया उठि मेलिनु नयन ,
देखिनु भरिया आछे आमार कानन !”



श्रीजानकीवल्लभ शास्त्री

सुमित्रा

की

शेष - स्मृति

मेरा प्यासा प्यार माँगता एक बूँद आँखों का पानी ,
 कोई सुन सकता पुकार ? कोई उदार हो सहृदय, दानी !
 एक बूँद की प्यास, करूँ कैसे निराश उन्मन प्राणों को ?
 एक बूँद,— अब और करूँ कितना कम अपने अरमानों को ?

एक बूँद, पावस की रानी !
 एक बूँद, सागर अभिमानी !
 एक बूँद, जग की माँ-बहनो ,
 एक बूँद, वात्सल्य-निशानी !



सँभल-सँभल कर पग रखती होगी, वह साधु-शरित्रा ,
 केवल पथ पर दृष्टि रखे होगी, वह परम-पवित्रा ,
 —ऐसी किसी नई पगली को इधर गुज़रते देखा ?
 कोई बता, वही तो होगी मेरी बहन सुमित्रा !



काठ-दिलों ने काठ रख दिए कैसे अपरिचिता पर ?
 था भाई परदेश, माँ मरी, भाव प्रकट न पिता पर !
 भीतर है जलधार, किन्तु ऊपर तो बालू—बालू,—
 हाय 'फलगु' ! किस भाँति बचाऊँ, जलती बहन चिता पर !!

जान सका कोई न बहन ! तू कब रोई, कब गाया,
 मरते दम तक भी तो कोई तेरे काम न आया !
 आग लगाई उसने, जिस पर मोती बरसाए थे,—
 जिसका जिगर जुड़ाया तूने, उसने तुझे जलाया !!

कैसी थी तू,—विधि-विधान का मैं क्या लेता लेखा ?
 तेरी ही आँखों से मैंने बहन ! तुझे था देखा !
 वह तसबीर !—चीर कर अपना हृदय दिखा पाता जो !
 मेरे मटमैले प्राणों में तेरी विद्युत-रेखा !!

तू न जानती बहन ! आह अब क्यों कर प्यार रहा हूँ ?
 तू स्वीकार करे न करे, क्यों दे उपहार रहा हूँ ?
 —अब न किसी का मैं भाई, मेरी न बहन अब कोई,
 —आज यही झूठे भायप का भार उतार रहा हूँ !

❖ ❖ ❖

ढाँचा टूटा एक नेह को, पुनः नया गढ़ना है,
 खा-खा कर नित ठेस, ठोकरें, फिर आगे बढ़ना है !
 वह कहते—माँ-बहन मरें, पर रोकर छन न गँवाऊँ,
 अभी मुझे उन्नति की ऊँची चोटी पर चढ़ना है !!

❖ ❖ ❖

इस बेकार कलेजे को टुकड़े कर देते जाना,
 आँसू के सागर में अपनी नैया खेते जाना !
 ऊपर सूना आसमान, नीचे पथरीली धरती,
 मुझे मुबारक किसी भाँति दो साँसें लेते जाना !!

❖ ❖ ❖

याद करूँ मैं सदा, कहाँ इतना अवकाश बढ़ा है ?
 मेरे जीवन के छन-छन में घन तम पाश बँधा है !
 विस्मृति में हूँ साँस ले रहा,—जीवन की स्मृति इतनी,
 —अभी मुझे भी तो मरने का करना रस्म अदा है !

❖ ❖ ❖

कहाँ मिले स्वर्गीय मुमन, मेरी दुनिया मिट्टी की,
 विहँस बहन ! क्यों तुझे सताऊँ कसक बता कर जी को !
 अब आखिरी विदा लेता हूँ, आह ! यही इतना कह,—
 मुझसा भाई हो न किसी का, तुझसी बहन सभी की !!

❖ ❖ ❖

प्राथमिकी

यह पहली आजमाइश है। एक छोटी सी स्वाभाविक साध, एक हल्की-सी साहित्यिक साधना।

कहानी-कला का Instinct नहीं, तो Germ भी मुझमें है या नहीं, हिन्दी के भाग्य-विधाता बताएँगे। आपको मैं अपनी तरफ से महज 'कानन',—'अपत कँटीली डारों'—खनखनाते झाड़ों-झंखाड़ों का यह झारखंड भेंट कर रहा हूँ।

निराभरण भाषा के हिंडोल पर डोलते हुए निरावरण मनोभाव; आँसू की उमड़ी सरिता के मलिन पुलिन पर उसास की झिर-झिर थिरकती मीठी बयार; खूँखार समाज के ज्वलंत ज्वालामुखी पर नए लहू की रिमझिम-रिमझिम झरती गुलाबी फुदियाँ; भूख से रूखे, प्यास से सूखे अधखिले गुलाबों की सिमटी-सिकुड़ी पंखड़ियों पर आसमान के उजले-धुले, गीले-गीले झिलमिल-झिलमिल मोतियों की फिसलन-किलकन; जीवन के सोए-अलसाए अरमानों के तुनुक तारों पर उतरे-उलझे, विधुर-सुर का आतुर कम्पन और मानव के निष्ठुर उर का मधुर सिहरन, मन्द स्पन्दन,—यह ऐसा 'कानन' का अपनापन तराश कर मुझसे Technics की क्रमाइशी कटाई-छँटाई और सफाई की तलाश करते न बना। और इसीलिए इसे सोने के पैमाने पर

बावन-तोले पाव-रत्ती ठीक उतरने की आज कोई उम्मीद नहीं; हाँ, मैं कल के लिए नाउम्मीद नहीं हूँ ।

एक बात और । जैसा कि दस्तूर है, इसमें भी किसी किताब से कम छापे की गलतियाँ नहीं हैं । संशोधन-पत्र चरुपाँ करना मेरे खयाल से कोढ़ पर खाज है ।

जहाँ 'से' की जगह 'के'; या 'ने' की जगह 'से' छप जाने से कर्ता का क्रिया के साथ कोई संबन्ध नहीं रह गया है, वहाँ मुझे अलग से कैफ़ियत देने की क्या जरूरत है ? विज्ञ पाठक स्वयं समझ लेंगे,—इस 'क्रिया' से 'कर्ता' का कोई संबन्ध नहीं है ।

जिन्हें भूल कर भी न होना चाहिए, जगह-जगह वचन, लिङ्ग आदि की वैसी भूलें भी रह गई हैं, तेज Memory वालों से उन्हें भूल जाने के लिए अदब के साथ अज कहूँगा ।

और ऐसी आमफहम भाषा में नुक्तों को लेकर नुक्ताचीनी करने की तो तबीयत होती ही नहीं ।

साहित्य-निकुञ्ज
मेगरा (गया)
५ जून १९४०

}

सविनय
जानकीवल्लभ

अनुक्रम

१—कानन	...	<u>१-३४</u>
२—भाई-बहन	...	<u>३५-६२</u>
३—गङ्गा	...	<u>६३-८८</u>
४—विनाश के पथ पर	...	<u>८९-११२</u>
५—दो दोस्त	...	<u>११३-१३२</u>
६—ईश्वर १७	...	<u>१३३-१४७</u>
७—मीना १३	...	<u>१४९-१५९</u>
८—वेश्या	...	<u>१६०-१७८</u>
९—पैसे की पहचान १५	...	<u>१७९-१८९</u>
१०—रोदन का राग १७	...	<u>१९१-२००</u>
११—पण्डित जी १३	...	<u>२०१-२०८</u>



कानन

सुनसान आधी रात । चारों ओर घोर सन्नाटा छाया हुआ । रह-रह कर नारियल के पत्तों का मार्मिक मर्मर रव तीर सी तीखी, बर्फीली हवा में बह जाता है । ललित अपने अँधेरे कमरे में गद्दीदार पलंग पर दो तकियों के बीच पेट के बल पड़ा-पड़ा दशमो के डूबते चाँद की पीली-पोली काँपती किरणों को सामने की खुली खिड़की से एकटक देख रहा है । इसी समय लीला धीरे-धीरे पास आती और भीतर ही भीतर हँसती हुई पीछे से उसको उनीदी आँखें बंद कर देती है । ललित लजा कर पूछता है—

“कौन, कानन ?”

“कानन ? नहीं-नहीं, मैं लीला हूँ !” कहते-कहते ललित की आँखों पर से उसकी हथेली ढोली पड़ती-पड़ती आप अलग हो जाती है ।

“हूँ, लीला ! तो तुमने इस वक्त, यहाँ तक, बेमौके, बेवजह तशरोफ़ लाने की तकलीफ़ किस लिए उठाई है ?”

कानन

“किस लिए ? सिर्फ तक्रलीक देने के लिए ! मैं आपको तनिक भी आराम दे सकूँ—ऐसी किस्मत मेरी कहाँ ?”

“तो बुरा न मानना लीला ! मुझे इस तरह के दीन, हीन कातर वचनों पर रहम नहीं, गुस्सा आता है। अगर तुम मुझसे कतई मिलना-जुलना छोड़ दो, तो भी मैं इस घोर पाप को न भुला सकूँगा कि महज समाज की ज़हन्नुमी रिवाज़ के मुताबिक तुम मेरे गले मढ़ दी गई हो और जब तक यह गला धड़ से अलग नहीं हो जाता, मैं तुमसे जुदा भी नहीं हो सकूँगा। पर इस तरह आधी रात को चुपके-चुपके तुम्हारा यहाँ आना-जाना मुझे बड़ा भद्दा मालूम पड़ता है !”

“ओह ! माफ़ कीजिएगा। मैं नहीं जानती थी कि इस समय आप किसी कानन की राह देख रहे होंगे। नहीं तो ऐसी बेशर्मी मैं खुद नहीं करती। अच्छा, अब जाती हूँ।”

लीला अभी कमरे से बाहर भी नहीं हो पाती कि ललित के चेहरे पर हवाइयाँ उड़ने लगती हैं। वह झटपट दौड़ कर लीला को लौटा लाता है। फिर लैप जला कर रोशनी में उसका रौशन देखता हुआ कहने लगता है—

कानन को भी तुम अपनी ही तरह गाँव की भोलो-भाली लड़की समझती हो ना ? वह इतनी रात को यहाँ क्या करने आएगी ? मैंने देखा, तुम न जाने क्या उस बेचारी के बारे में व्यर्थ ही सोच डालोगी। वह अभी कुमारी-किशोरी है, उसे

तो यह भी नहीं मालूम कि मैं व्याहा हुआ हूँ ! वह क्या तुम्हारे बारे में कभी कुछ बुरा-भला सोच सकती है ? फिर तुम्हें ही उससे ऐसी सौत-सी डाह क्यों कर होने लगी ? खैर, जाने दो इन ऊल-जलूल रश्क-वश्क की बातों को ।” ललित अपने स्वर को शक्तिभर कोमल कर पूछता है—आखिर अभी तुम्हें यहाँ आने की सूझी कैसे ?”

“यों ही”—लीला अपने मृदु-मधुर अधर को निठुरता से काटती हुई कहती है—“एक सवाल का जबाब जानने आई थी । इधर कई दिनों से, जब-जब मैं भीतर देवालय में दीप जलाने जाती हूँ, मेरे मन में यह बात आती है कि आखिर ये देवताओं की मूर्तियाँ प्रायः मिट्टी, काठ या पत्थर ही की क्यों बना करती हैं, जिनके न दिल होता है, न ज़बान ही ?”

छेड़ते ही जैसे नाग ने फन सीधी कर ली हो, ललित फिर बेकाबू होकर बोलने लगता है—“इसका तो साफ जबाब यही जान पड़ता है लीला, कि यदि उनके भी दिल हो तो वह ऐरे-गैरे-नत्थू-खैरे सबकी पूजाओं को आँख मूँद कर स्वीकृत ही न कर सकें ! पूजा करनेवाले अधिकांश स्वार्थी, लालची, ढोंगी या मक्कार ही हुआ करते हैं । यदि मूर्तियों के मुँह में भी ज़बान हो तो वह उन्हें पास फटकने देना तो बहुत दूर, अहाते के अन्दर भी न आने दें । फिर मेरा तो यह खयाल है कि जैसे-वैसे के पूजोपहार स्वीकार करने को विवश किया हुआ कोई

कानन

कैसा भी सहृदय या मृदुभाषी क्यों न हो उसके लिए मिट्टी, पत्थर या काठ बनना निहायत जरूरी होगा.....।”

“बस-बस, अब रहने भी दीजिये, मैं सब कुछ समझ गई। उधर देखिए न, चाँद डूब चुका, कैसा भयावना २ अँधियाला घिरता आ रहा है ! अच्छा, अब आप आराम कीजिए। मैं जाती हूँ।”

(२)

लीला को सुसराल आए तीन हफ्ते से भी ज्यादा हो गए। यदि उसके पिता होते या अपना भाई ही होता तो वह अब तक कभी मयके लौट गई होती ! पर उसके वहाँ तो ताऊ, चाचा और चचेरे भाइयों का दौरदौरा है ! वे ललित जैसे सुन्दर, सुयोग्य तथा संपन्न वर के हाथ उसे सौंप कर ही जैसे सब कुछ से छुटकारा पा गए हैं। लीला की माँ सिर धुन कर रह गई पर किसी ने उसकी एक न सुनी। यहाँ लीला और ललित का जो प्रथम मिलन हुआ, उसे चिर-विरह कहना अधिक उपयुक्त तथा सत्य होगा। ललित ने लीला की ओर ज़रा नज़र तक नहीं उठाई, लीला अपने सुकुमार मनोभावों, प्रणय के प्रथम स्वर्णिम अङ्कुरों को सारी रात मन ही मन मसलती रह गई और प्रातः-काल उसके निरपराध नयनों के सजल सरोवर में सत्य स्नेह के कोमल कमल जो कलियाँ लेने लगे थे, उन्हें केवल विकल नलिनी के अलावा और किसने देखा था ? भोली-भाली लड़की

लीला ललित के इस अकारण वैराग्य का कारण क्या समझ सकती थी ? तब से आज तक जितनी बार ललित लीला से मिला, अपनी तरफ से एक बात भी नहीं की। हाँ, नलिनी से भेजी जाकर लीला जब उससे दो-चार शब्द बोलती, बड़ी मुश्किल से वह उनका जबाब दे देता। इसी प्रकार इस नव दम्पती के दिन बीत रहे हैं, रातें कट रही हैं।

ललित की माँ मर चुकी है। पिता वृद्ध हैं। घर में सिर्फ दो बहनें हैं, जो बारी-बारी से सुसराल आती-जाती हैं। बड़ी बहन ने ललित को पोस पाल कर बड़ा किया है, इसलिए वह उन्हें माँ के समान मानता है। छोटी बहन नलिनी ललित को 'बाबू' कहकर पुकारती है और ललित भी उसे जी जान से प्यार करता है। सचमुच नलिनी को यह तनिक भी अच्छा नहीं लगता कि उसके 'बाबू' उसकी प्यारी भाभी से यों खिंचे-खिंचे रहें, पर वह सङ्कोचवश खुलकर कुछ कह नहीं पाती।

कार्तिक की अलस-उदास दोपहरी। आँगन में गौरैयाँ का एक छोटा-सा झुंड इधर-उधर गिरे पड़े अन्न-कणों को चुगता, शोर करता हुआ। उदास-निराश लीला अकेली कुछ गुनगुना रही है। इतने में गेहुआँ रंग की, साँचे में ढली, परी-सी खूब-सूरत, तितली-सी तुनुक, वंशी-स्वर सी मधुर, आँसू-सी सुकुमार एक उसी को हमउम्र लड़की, धानी रंग की रेशमी साड़ी पहने, घुटने तक तैरते हुए, सरस-सुवासित, श्यामल-चञ्चल, बाल-जाल

कानन

से घिरी नलिनी को 'पुकारती हुई आँगन में आकर खड़ी होती है। उसे देख लीला झटपट बहू-सुलभ लीला-भाव भूलकर पास पहुँच जाती है। फिर जैसे प्यार का लबालब भरा प्याला छलक पड़ा हो, वह बोलती है—

“नलिन पड़ोस में घूमने गई है। तुम्हीं कानन हो न ? आओ, बैठो। अब वह भी आती ही होगी !”

“ललित बाबू कहाँ गए हैं ?”

“कुछ कह कर नहीं गए। पर हाँ, बहुत देर तक तुम्हारी राह देख रहे थे। मुमकिन है, तुम्हारे ही घर की तरफ गए हों !”

“ओः ! तब तो मैं भी जाती हूँ जी, मुझे उनसे कुछ जरूरी काम है।”—कहती-कहती कानन दौड़ कर दरवाजे पर पहुँच जाती है। वहाँ देखती है,—ललित देहातियों की तरह सर्र-सर्र ईख चूसता हुआ भीतर ही आ रहा है। वह उलटे पाँव आँगन में आकर कहने लगतो है—

“अजी, किधर गई ! ललित बाबू तो यहीं हैं, फिर आपने कैसे कह दिया कि वह तुम्हारे ही घर गए हैं ?”

—“क्यों ? क्या हुआ कानन ? नलिनी नहीं है क्या ? किससे बातें कर रही हो तुम ?”

ललित का सुललित स्वर सुनकर लीला के गाल लाल हो जाते हैं। वह भय और सङ्कोच से जैसे गल जाती है।

कानन कहती जाती है—

“अभी यहीं पर तो थीं। यों बढ़-बढ़ कर बातें कर रही थीं जैसे तुम्हारी ही व्याही हुई, साक्षात् श्रीमती जी हों ! पर अब देखो न, तुम्हारी आवाज़ सुनते ही जाने किधर छुप गई ! वह कौन हैं ललित बाबू ? मुझसे मेरा नाम पूछे बिना ही कहने लगीं—‘तुम्हीं कानन हो न ? आओ, बैठो !’ जब मैंने तुम्हारे बारे में पूछा तो उन्होंने झूठ-झूठ बतला दिया कि वे तो तुम्हारे ही घर गए हैं ! कौन हैं वे,—बोलो न ?”

ललित कानन के हाथ में ईख का बचा टुकड़ा देकर, लीला की शर्मनाक हरकतों पर आँखें सुख किए चुपचाप अपने कमरे में चला जाता है। नलिनी आते ही खिल-खिल करती, कानन को अपनी भाभी के पास पहचान कराने के लिए खोंच ले जाती है ! कुछ ही देर में उन्मुक्त अट्टहास से लीला का आवास गूँज उठता है।

(३)

कानन बुलबुल की तरह चहकती हुई निकली थी, पर समुद्र की तरह गम्भीर होकर घर लौटी। वह पटने के सबसे बड़े नामवर एडवोकेट की इकलौती लड़की है, फर्स्ट क्लास में मैट्रिकुलेशन पास कर अब इंटरमोडिएट की एक जिनियस। सूरत और सीरत दोनों ही में उसके जोड़ की कॉलेज में दूसरी नहीं।

जब वह हाइस्कूल में पढ़ती थी तभी विवाह न करने की मन ही मन प्रतिज्ञा कर चुकी थी। उसे स्कूल-कॉलेज के छोकरो की अति पतित मनोवृत्ति देख-देख कर वैसे ही किसी अभागे के हाथों अपने सोने से जीवन को मिट्टी में मिलाने की ख्वाहिश एकदम ही नहीं रह गई थी। उसकी सखियाँ उसके ऐसे हवाई ख्यालों की खिलियाँ उड़ाया करती थीं, पर वह लापरवाह, अपने तूफानी विचारों के बीच बिजली-सी जल रही थी। पोले-पिचके गालों वाली, रंगीन, इन्द्रधनुषी साड़ियों में सटी-सिमटी क्लास की बेहया लड़कियों को जब वह कंकालकाय सूटेड-बूटेड बाबुओं के बीच से नज़ाकत के साथ पास करते देखती, तो उसके गुस्से का ठिकाना नहीं रह जाता। वह सोचने लगती—‘गुनाह सिर्फ़ शूतरमुर्गों का ही नहीं, पेंडकियों का भी है। आज के समाज का वातावरण जो पापमय तथा तिमिराच्छन्न हो रहा है, वह इन्हीं के मुँह की स्याही के सबब; दूसरे-दूसरों की तालियों से जो आसमान फटा जा रहा है, वह और कुछ नहीं, इन्हीं की जुड़ी हथेलियों से उठी हुई ध्वनि की प्रतिध्वनि है। मैं ऐसी जघन्य जोड़ियों को जहन्नुम की राह जानेवाली समझती हूँ। मुझे इन निकम्मे नवयुवकों और निठल्ली नवयुवतियों को निहायत नीच समझने में तनिक भी हिचकिचाहट नहीं करनी चाहिए। मैं चाहती हूँ, शिक्षा या संस्था बदनाम न हो, समाज ऊँचा उठे, जीवन का अन्तिम ध्रुव लक्ष्य यह विनाशकारी

विवाह ही न रह जाय, और इसी लिए मैं मरते दम तक शादी नहीं करूँगी, नहीं करूँगी।'

पर इधर पिता के लगातार हठ करने पर, माता के दिनरात समझाने-बुझाने पर उसे अपने निश्चय का नक्शा बदलना पड़ा। माता और पिता—दोनों के लाड़-प्यार की पुतली, उस अपार सम्पत्तिराशि की एकमात्र उत्तराधिकारिणी कानन को अपनी प्रतिज्ञा पर अचल-अटल रहते न बना। अधिक से अधिक फोर्थ इयर तक पढ़ चुकने पर ललित के साथ शादी करने को अब वह तैयार थी। कॉलेज भर में उसकी आँखों को भानेवाले ललित को विस्तृत चर्चा चला-चला कर उसने माँ-बाप को अच्छी तरह अपनी राय में कर लिया था। ललित देखने में जैसा सुन्दर-सुरूप, स्वभाव में विनयी-सुशील, घर का सुखी सम्पन्न, बी० ए० का विशिष्ट विद्यार्थी, फिर सोने में सुगंध जब सजातीय भी बतलाया गया तो ऐसे सुघर चुनाव में इनकार या हिच-किचाहट की किसी के लिए कतई गुंजाइश नहीं रही।

कानन के आग्रह करने पर कई बार ललित उसके घर जाकर चाय-बिस्कुट में शरीक हो चुका था। एक बार कानन भी ललित के वहाँ गई थी, घर में बगैर कुछ कहे सुने ही। और उस दिन नलिनी की पहचान ने ललित के प्रति उसके निश्छल प्रेम में जैसे चार चाँद जड़ दिए थे। पर आज लीला को देख कर उसके सारे मनसूबे ठण्डे पड़ गए। उसके दिल में बार-बार

यही खयाल आने लगा—कि आखिर ललित भी कितना झूठा निकला। उसने कभी भी नहीं बताया कि वह विवाहित है। शायद मुझे निरो गँवार समझ कर बहलाए रखने के लिए उसने यह तरीका अख्तियार किया था। तिस पर, कल रात, घर में थिएटर देखने का बहाना कर उसने मुझे अकेली अपने यहाँ बुलाया था। छिः छिः, काश कल मैं बाबा-अम्मा सब से झूठ बोल कर चली जाती उस निष्ठुर, मक्कार के पास ?.....

इस प्रकार कानन चिन्ता में नितान्त निमग्न होकर ऊपर तिमंजिले से गंगा की ओर देखने लगी, जैसे उसका श्रान्त हृदय चिर-शीतलता के लिए गंगा की धार से एकाकार होना चाहता हो। साँझ का झुटपुट। गंगा के सजल हृदय पर से सूरज की अन्तिम सुनहली रेख भी मिटते-मिटते मिट गई। मा ने आकर पूछा कि आज इतवार को भी वह इतनी परेशान क्यों है, दुपहर से ही न जाने कहाँ चलो गई थी। कानन ने सच-सच सब हाल बतला दिया—माफ करना मा, मैं आज तुम से बगैर कहे ही ललित बाबू की दुलहिन से मिल कर आ रही हूँ। गाँव की लड़की है, बड़ी खूबसूरत, बिलकुल भोली-भाली। पढ़ी-लिखी भी अच्छी है। देखो न मा, ललित बाबू कैसे गहरे दिल्लगीबाज हैं, कभी तनिक उसकी चर्चा तक नहीं चलाई यहाँ! आज उनकी बहन नलिनी ने मुझ से बतलाया कि पिछले साल फागुन में उनकी शादी हुई थी।

कानन की बात पर मा को पूरा विश्वास न हुआ। सहसा विश्वास कर लेने लायक यह बात भी न थी। पर इसी समय ललित वहाँ पहुँच गया।

(४)

“तुम तो अविवाहित थे न ?”—बहुत देर मौन, निस्तब्ध रह चुकने पर कानन ने कमरे की समाधि भङ्ग की।

“था क्यों ? सो अब भी हूँ !”—ललित ने उतरे हुए स्वर से सहयोग दिया।

“हूँ ! तब तो मेरी जिन्दगी खराब कर चुकने पर भी तुम इसी तरह कुँवारे बने रहोगे ? कुँवारा बनने से फायदा ही तो है—पारसाल लीला मिली, दो वर्षों बाद मैं फँसती, और फिर जिस-जिस की क्रिस्मत हमारी ही तरह फूटी हुई होती !”

“यह तुम क्या कह रही हो कानन ?”

“मैं सब ठीक कह रही हूँ ललित बाबू ! और अब तुम्हारे मुँह से इसका गलत जबाब भी सुनना नहीं चाहती !”

“पर छन भर मुझ पर विश्वास तो करो। फिर चाहे मेरा कहा एकदम मत मानना। मैं ईश्वर की कसम खाकर कहता हूँ, मैंने लीला के साथ शादी नहीं की है। शादी की है पिता जी के निठुर हठ ने, समाज की अँगारों की भाँति जलती हुई आँखों के मुझ जैसों को खाक कर देने वाले इशारे ने, तिलक

कानन

ने, दहेज ने, पर मैंने हर्गिज नहीं। जिसे मैं एकदम नहीं जानता, सपने में भी जिसकी सूरत नहीं देखी, जिसके आचार-विचार का मुझे बिलकुल पता नहीं, और सचमुच ही जिसके प्रति मेरा तिल भर भी प्रेम नहीं, उसके साथ, वह चाहे देवी ही क्यों न हो, मेरा व्याह नहीं हो सकता कानन !”

“माफ कीजिएगा ललित बाबू”—कानन का ‘तुम’ वाला मध्यम स्वर अचानक ‘आप’ के पञ्चम पर पहुँच गया, जैसे कोयल ने कौए का घोसला छोड़ते समय एक बार ही अपना असली राग अपना लिया हो !” ऐसी चंड़खाने की गप्प सुनने को मेरी तबीयत नहीं होती। बातों-बातों में तो आप आसमान को ज़मीन पर उतार लाने की डींग हाँकते हैं, पर वस्तुतः आप में एक हलके से तिनके को भी उठा कर चलने की ताकत नहीं। समाज में इस तरह का रोना आज नहीं, युग-युग से सुनाई पड़ता है, पर मुझे ऐसे मगर के आँसू पर छुट कर हँसी भी आती है, गुस्सा भी लगता है। लड़के और लड़कियाँ—दोनों ही रोनी सूरत बनाकर कहा करते हैं—‘शादी मेरी मर्जी से नहीं हुई !’ और रोज़-रोज़ ऐसी बेमर्जी की शादियों का मर्ज हैजे और सेग से भी ज्यादा बढ़ता ही चला जाता है, तो चूल्हे में जाय ऐसी निकम्मी बेमर्जी ! हृदय में थोड़ा भी साहस नहीं, धैर्य नहीं, शक्ति नहीं, फिर घुट-घुट कर मरने से डर क्यों कर ? माँ-बाप, घर-परिवार, साथी-संगियों के आगे मुँह खोलते

शर्म लगती थी आपको, पर मुझ से तो ऐसी बे-सिर-पैर को बातें करते तनिक शिक्षक भी नहीं मालूम पड़ती,—क्यों ?”

“कानन.....!”

“कानन-वानन कुछ नहीं ललित बाबू ! कहिए—लीला; लीला ! कैसी खूबसूरत सीधो-सादी लड़की ! उस पर अपने केंचुए-समाज का, जिद्दी बाप था, और नामर्द दिल का बुखार उतारने चले हैं वीर-बाँका बन कर ! वह आप से ज्यादा सच्ची है, बेकसूर भी । अगर आप उसके साथ इसी प्रकार अन्याय अत्याचार जारी रखेंगे, जैसा कि मैंने नलिन के मुँह से सुना, तो सच कहती हूँ—इस पाप का प्रायश्चित्त आप मर कर भी नहीं कर सकेंगे ! और जिस खोटे सपने के फेर में पड़ कर आप यह पाप करने पर तुले हैं, उसके बारे में मैं इतना ही कहना काफ़ी समझती हूँ कि सपना हमेशा सपना ही है, वह सच नहीं हो सकता !”

“पर मैं तो तुम्हीं को सच्चे दिल से प्यार करता हूँ, कानन !”

“लेकिन अब यह शलती न करें तो बेहतर हो ! कह चुकी, आप नाहक ऐसी फ़ालतू बातें बोल-बोल कर अपनी ज़बान को परेशान न करें । आप से लीला जैसी सरल-सुन्दर प्रतिव्रता पत्नी को प्यार करते नहीं बनता, तो नहीं सही, पर मुझे आप जैसे के सच्चे दिल के प्यार की भीख नहीं चाहिए !”

(५)

ललित ने कॉलेज जाना छोड़ दिया। जब-जब पिता ने इसका कारण जानना चाहा, उसने साफ आनाकानी कर दी। उन्होंने उसे खुद बहुत समझाया, उसके दोस्तों को तरह-तरह की बातें सुझाने के लिए कहा, पर उनके सारे प्रयास निष्फल हो गए। ललित अपनी ज़मीन पर जकड़ कर खड़ा रहा। वृद्ध पिता जवान लड़के के लड़कपन पर अछूता-पछूता कर रह गए। कल लीला भी दो दिनों से आए हुए अपने चचेरे भाई के साथ मयके चली गई। जाते समय भी ललित उससे न मिल सका। इधर कई रोज़ से नलिनी देखती है, ललित रात २ भर छत पर चहलकदमी करता रहता है, उसे बिलकुल ही नोंद नहीं आती। खाना चिड़िए के बराबर खाता है। उसके बाल एकदम रूखे-सूखे, चेहरा सुफेद हो रहा है। घर के बाहर घूमने के लिए भी नहीं निकलता। उसकी हरकत से पिता बुरी तरह हैरान हैं, पर छेड़-छाड़ करने की हिम्मत उन्हें नहीं होती। क्योंकि उन्हें बराबर यह खौफ़ बना रहता है कि बहुत बकझक करने पर कहीं उनके बुढ़ापे का सहारा, प्यारा ललित हमेशा के लिए घर छोड़ कर चला न जाय ! एक दिन बड़ी हिम्मत कर नलिनी ने पूछा—
“बाबू ! ज़रा मैं कानन के घर जाऊँ ।”

“नहीं” ललित ने झटपट जवाब दे दिया।

“तो तुम्हीं उन्हें एक घंटे के लिए बुला दो ना !”

“नहीं, सो भी नहीं होगा। तू जानती नहीं नलिन, कानन बैरिस्टर की बेटी है, वह तेरे घर क्यों कर आने लगी भला” ?

“पहले कैसे आती थी ?”

“आती क्या थी ? एक दिन लीला को देखने आ गई थी, वही न” ?

“वही क्यों ? पहले भी तो एक बार आई थी ?”

“अरे, आई थी तो आने दे।” ललित ने तुरत ही रुख बदल दिया।—“हाँ, यह तो बता नलिन, लीला कभी तुझसे कुछ कहती भी थी ?”

“कहती क्या न थी बाबू ? ओह ! तुमने तो कभी उससे ठीक तौर से बातें भी नहीं कीं ! बेचारो हमेशा रोती रहती थी। आखिर जाते-जाते कह ही गई कि—अब तुम्हारे घर कभी नहीं आऊँगी !”

—“हा-हा-हा ! सच नलिन ? सचमुच कभी नहीं आएगी ? वाह, तब तो वह बड़ी मजेदार बात कह गई है ! हा-हा हा-हा ! अगर कभी तू उसे खत लिखे, तो इतना मेरी तरफ से भी लिख देना कि ईश्वर के लिए वह भूल कर भी फिर यहाँ न आए ! हा-हा-हा !”

“चलो बाबू, तुम्हारा दिल तो अब बिलकुल पत्थर का होता जा रहा है ! तुम भाभी की सभी बातों को सिर्फ हँसी में टाल देना चाहते हो ! जाओ, अब मैं कुछ न कहूँगी।”

कानन

“मेरा दिल पत्थर का हुआ जाता है, क्यों नलिन ? मैं सब बातों को हँसी में उड़ा देता हूँ न ? हा-हा हा-हा, आखिर तू भी नाराज़ हो गई ?”

(६)

ललित कभी-कभी एकान्त में भावुक की तरह सोचता—

“कानन के आदेश के अनुसार जब मैं लीला की ओर दृष्टि क्षेप करता हूँ तो उसको विकट परिस्थिति, उसका निरीह-जीवन मुझे अत्यन्त दयनीय देख पड़ता है। कैसी अन्ध विडम्बना उस निरपराध को मेरे किए पापों का अभिशाप अञ्चल फैलाकर ग्रहण करना होगा ? मैंने जो पिता और समाज के सामने हठात् मस्तक झुका कर, मौन होकर हलाहल पान किया है, उसक धू-धू कर जलती हुई अन्तर्ज्वाला में जीवन भर फुलसना, चीख चीख, चिल्ला-चिल्ला कर मरना होगा उसी सुन्दरी सती को जिसने मुझे शिव समझा, मुझ जीवन्मृत से अमृत प्राप्त करने क आशा और अभिलाषा की ?

“अब के पहली बार सुसराल से घर लौटी है। वहाँ अपर्न स्नेहमयी मा से मेरे निष्ठुर दुर्व्यवहार के विषय में क्या कहेगी ? और सुन कर उसकी मा कैसे न मर्माहत होकर गिर पड़ेगी ? कैसे उसका मातृ-हृदय यह दारुण वज्राघात सह सकेगा ? आह !”

फिर कभी आलोचक के समान गम्भीर हो कर विचारने लगता—

“तो क्या प्रेम और करुणा एक ही वस्तु है ? मुझे लीला के आन्तरिक दुःख-सन्ताप के प्रति समवेदना हो सकती है, होती है, पर प्रेम तो स्वप्न में भी नहीं होता ! क्या प्रेम करने से हो सकता है भला ? फिर उस दिन कानन क्या सोचकर कह गई कि मुझे लीला ही से प्रेम करना चाहिए ? प्रेम ‘चाहिए’ की प्रतीक्षा में कब खड़ा रहता है ? वह सहज पवित्र, स्वाभाविक मुक्त ठहरा, उसे ‘चाहिए-वाहिए’ की लौह शृङ्खला में बन्दी बनाकर रखना चाहिए क्या ?

“माना, कानन को मुझसे घृणा हो गई है। ठीक है। पर मैं तो उसे अब भी प्यार करता हूँ, और शायद आखिरी साँस तक करता रहूँगा। भला मेरे न करने से होगा भी क्या ?

“विवाह की उत्कण्ठा ने, प्रलोभन ने तो मुझे उससे प्रेम करने के लिए बाध्य नहीं किया ! फिर अपने सत्य, निश्चल प्रेम को मैं क्या कह कर धोका दूँ ? रही बात, लीला का क्या होगा ? सो इसका उत्तर मैं क्या दे सकता हूँ ? मैंने अपराध किया है, पाप किया है, ईश्वर उसका कठिन दण्ड दे, मैं सर झुका कर सब सहन करूँगा ! पर जब लीला के लिए मेरे हृदय में बूँद भर भी स्नेह नहीं होता, तो मैं क्या करूँ ?

“समाज पूछेगा—“क्यों नहीं होता अन्धे, पापी ? क्या वह

सुन्दरी-रूपसी नहीं ? सुशील नहीं ? गुणी नहीं ?” तो इस निरर्थक प्रश्न जाल के साथ मैं कब तक अपना माथा उलझाया करूँगा ? जो रूप-रंग पर रीझता है, शील पर मरता है, गुणों के पीछे पागल होता है, सम्भव है, वह उसी को प्रेम करना समझता हो ! पर मुझे तो उस हवाई समझ पर हँसी आती है । क्योंकि वह प्रेम से बढ़ कर ढोंग है । अपने को भी धोका देना है और अपने प्रेम-पात्र को भी जहन्नुम का रास्ता दिखाना । ना-ना मुझे तो उस तरह दीवाना बनना, किसी के बाहरी रूप-रंग पर लट्टू होना भला नहीं लगेगा ! फिर मैं व्यर्थ ही लीला को क्यों धोका दूँ ? मुझे उस पर तरस आती है, रोना आता है, दुख होता है, दर्द होता है, पर प्रेम ? वह नहीं होता, नहीं होता,—तो मैं क्या करूँ ?

“और अब तो मैंने भली भाँति सोच-समझ कर जान लिया है कि मेरा प्रेम बस एक ही ठौर, एक ही ठौर हो सकता है—‘कानने’ कानने वा !”

(७)

कानन की मा को पूरी उम्मीद थी कि ललित की भदी भुठलाई से बुरी तरह रूठी हुई वह फिर कभी ललित का नाम तक न लेगी । पर बात बिलकुल उलटी निकली । कानन प्रायः नित्य ही ललित का प्रसङ्ग उठाया करती । आखिर एक दिन उसकी मा से नहीं रहा गया, वह धीरे से कह ही बैठी ।

—“बेटी, बात-बात में तुम्हारे मुँह से ललित का नाम सुनकर लोगों को जाने कैसा-कैसा खयाल होने लगता है। तुम्हारे बाबा शर्म से कुछ कह नहीं पाते पर दिल ही दिल उन्हें भी यह बड़ा भद्दा मालूम पड़ता है। आखिर अब जाने भी दो ललित को। वह तुम्हारा है ही कौन ? एक बरस से भी ऊपर हो रहा है—क्यों बेटी, पर आज तक फिर यहाँ उसने पैर भी नहीं रक्खा ज़रा ? अरे, शादी कर ली थी तो कर ली थी, कोई उसकी दुलहिन रानी को छीन थोड़े लेता यहाँ ? खैर, अगले साल मेरी कानन का भी ब्याह होगा—कलक्टर के बेटे के साथ। वह इस वक्त इंगलैंड में पढ़ रहा है, फिर तो ललित जैसे उसके तलवे चाटेंगे, तलवे !.....”

अपनी अम्मा को इन वाहियात बातों से कानन का दम घुटने लगा। वह जैसे भीतर ही भीतर झुलस कर जोरों से चीख उठी—“मा ! अब रहने भी तो दो इन आलतू-फालतू, बेबुनियादी बातों को ! बेचारे ललित बाबू सुनेंगे तो उन्हें नाहक बहुत दुख होगा !”

“मुझे कुछ भी दुख नहीं होगा कानन !” कहता हुआ ललित ठीक उसी समय सीढ़ियों से चढ़ कर ऊपर आ गया। कानन अवाक् हो गई। उसकी मा धीरे-धीरे नीचे खिसक आई। ललित के प्रणाम का मुँह खोल कर आशीर्वाद भी न दे सकी !

कानन ने देखा,—एक ही वर्ष में उसका ललित कितना

कानन

दलित हो चुका था ! उसकी रौशनदार आँखें गड्ढे में धँस गई थीं, चेहरा एक दम सूख गया था ! ललित कानन की ओर निगाह उठाते ही हँसने की कोशिश करता हुआ, बच्चे की तरह फूट-फूट कर रोने लगा । कानन जैसे पत्थर की मूर्ति बन गई हो, उसके मुँह से एक शब्द भी नहीं निकला । कुछ छन बाद ललित ने ही भिक्षुक-दृष्टि से कानन को देखते हुए, अधीर होकर पूछा—

“तुम मुझे माफ़ नहीं कर सकतीं कानन ? हालाँकि मैंने तुम्हें तनिक भी धोका नहीं दिया, पर तुम्हारा नर्म दिल दुखाने का क्रसूर तो मुझ से हो ही गया है !”

“नहीं ललित बाबू, आपने कुछ भी गलती नहीं की है । बल्कि मैं ही भ्रम-वश आप से बड़ी कड़ाई से पेश आई थी, मुझे माफ़ कीजिए !”

“तो क्या हुआ कानन ? भ्रम तो कभी सत्य नहीं होता । तुम्हें भ्रम हो गया था कि मैं तुम्हें पाने की लालच से ही तुम से प्रेम करता था ! पर सच यह है कि मैं अपने ही को तुम में खोने के लिए तुम से प्रेम करता हूँ । प्रेम खोने ही को तो कहते हैं कानन, पाने को हर्गिज़ नहीं ! जो कोई कुछ पाने की गरज से किसी से मुहब्बत करता है, वह प्रेमी नहीं, स्वार्थी है, मक्कार !”

कानन की आँखें छलछलला उठीं । वह जैसे ललित की बाहरी

रूक्षता को धोने के लिए प्रेम की धार बन कर बह जाना चाहती थीं। ललित लजाकर जाने लगा—“हाँ कानन, मैं तो तुम से बिदा माँगने आया था। तुम्हारे दिए हुए प्रकाश में देखने से मुझे निरपराध लीला पर अब बड़ी दया आती है, मैं आज उससे मिलने जा रहा हूँ, उसी के घर ! अभी उससे भी माफ़ी माँगन होगी न !”

“सचमुच ललित बाबू ! तब तो आज आपने बड़ी ही खुश की खबर सुनाई ! आप जरूर जाइए वहाँ, और मेरी प्यार लीला को मेरी ओर से कहिए कि कानन की साधना और लीला की साध को ललित बाबू ने कैसे एक साथ ही पूर्ण कर दिया अब लीला बताए भला कि मेरे ललित बाबू निर्मोही, निठुर या सच्चे स्नेही, उदार दयालु ?”

ललित के चले जाने पर कानन बहुत देर तक उन्मन रही बरस भर बाद भेंट हुई थी पर तो भी वह ललित से इतना पृथक् सकी कि क्यों अचानक उसने पढ़ना-लिखना छोड़ दिया क्यों उसकी तन्दुरुस्ती इस तरह खराब हो गई, अब आगे के लिए वह क्या सोच रहा है !

मुमकिन है, ललित कुछ ज़वाब देता। पर वह तो ऐसे सभी प्रश्नों का उत्तर अपने ही को समझती हुई पछता रही थी उसी ने ललित की हरी-भरी दुनिया उजाड़ डाली, उसी के चलते ललित और लीला के बीच एक लोहे की दीवार खड़ी हुई, उस

कानन

ने ललित के बेकसूर कलेजे को कुचल डाला, मसल डाला, पैरों से ठुकरा दिया, रौंद दिया ! वही पापिन है !

ओह ! उस रात को, जाने दिल की कौन सी कसक सुनाने को उसे बुलाया था—सिर्फ चंद मिनटों के लिए ! पर उस बेरहम ने जाने की सोची तक नहीं, बेचारे की सुध लेना भी उसे बेकार मालूम हुआ ! किन्तु वह कैसे किस मुँह से कह सकती है कि ललित सचमुच ही सच्चे दिल से उसे प्यार न करता था ? वह अबतक झूठे गारूर में कुम्पा—बनी बैठी ही रह गई और देखते ही देखते उसका ललित आज माफ़ी माँग कर चुपचाप चला भी गया !

(८)

इसके दूसरे रोज़—साँझ होते-होते, ललित के पहुँचने के कुछ ही पूर्व, लीला अपने जीवन की इहलीला समाप्त कर चुकी थी । उसके चचेरे भाइयों से मालूम हुआ कि कई रोज़ पहले ही उन्होंने उसके पिता के पास, लीला की सख्त बीमारी का पूरा हाल लिखते हुए, ललित को जल्द से जल्द बुलाया था ! ललित ने अब कहीं समझा कि क्यों उसके वृद्ध पिता जी बार-बार सुसराल जाने के लिए तकाज़े कर रहे थे ! और यह भी समझा कि क्यों वह खुलकर वज़ह नहीं बतलाते थे !

लीला को जलाकर लौटे अभी घंटे भर से ज्यादा नहीं हुआ था । घर में हाहाकार मचा हुआ था । लीला की माँ रोते-रोते

मरने पर तुली हुई थी। लोगों ने ललित को बतलाया कि आज सुबह तक लीला होश में थी, और ललित के आने की राह देख रही थी। माँ के पास कई बार बोली थी कि—‘ओह ! तनिक चलते समय भी नहीं मिल सके ! बड़े बेदर्द हैं वे !’

ललित काठ सा सब सुनता रहा। जवाब देने को उसके मुँह में ज़बान न थी। आधी रात के बाद सब सो गए पर तब भी भीतर घर से किसी के सिसकने की आवाज़ आ रही थी। ललित यह सोचता हुआ कि रोनेवाला लीला की माँ के अलावा और दूसरा कौन होगा, उसका और अपना था ही कौन, पागल की तरह यों ही अंधा-धुंध, आखिरी बार लीला से मिलने के लिए, श्मशान की ओर बढ़ चला।

जाड़े की अमावास्या। धनघोर अँधेरी रात। जहीं-तहीं ठंढ से जकड़े-सिकुड़े कुत्ते भूँकते हुए। सारा वातावरण साँय-साँय करता हुआ। ऊपर से आसमान निटुर ललित की यह हरकत देख-देख कर आठ-आठ आँसू की बूँदें बरसा रहा था। पर वह तो ऐसे घने अँधेरे के अपने सच्चे साथी की तलाश में बेतहास उड़ा जा रहा था !

आखिर ललित को तुरत की जली चिता ढूँढ़ते बहुत देर न लगी। पास ही, एक छोटी सी नदी की रेत पर के उजियाले ने उसे अपने पास बुला लिया। वहाँ पहुँच कर ललित ने आखिरी बार अच्छी तरह आँखें भर-भर कर देखा—लीला को

कानन

नहीं, उसकी सजीव ज्वाला को ! शायद यही लीला का सच्चा दर्शन भी था !

इस देखने-दिखलाने की दुनिया में कोई जीते ही जी अपने को दिखला देता है और किसी-किसी को इसी के लिए मरना भी पड़ता है ! वह जैसे यही कहता हुआ अपना आखिरी दम तोड़ देता है “अंधी दुनिया ! अब भी तो देख कि मैं कौन था ?” लीला के दिल में जो ज्वाला थी, उसे वह जीते जी ललित को नहीं दिखला सकती थी !

दूसरे दिन सुबह-सुबह सबों ने बड़े अचरज से देखा कि ललित की खाट सूनी पड़ी है ! उसके कपड़े ज्यों के त्यों रक्खे हुए हैं, जूते भी खाट के नीचे औंधेमुँह हो रहे हैं, सिर्फ उसीका पता नहीं है ! बहुत देर तक प्रतीक्षा कर चुकने के बाद खोज-ढूँढ़, जाँच-पड़ताल शुरू हुई, पर अफसोस ! उसका कहीं भी पता न चला !

(९)

कानन को ऐसा विश्वास न था कि ललित बाबू शीघ्र ही ससुराल से लौटकर उसे लीला की खुशियों का हाल सुनाने न आएँगे ! पर कितने ही महीने बीत गए, वह लौटे नहीं । जब लगभग साल खतम होने पर आया, वह एक दिन माँ से बगैर कहे-सुने चुपके-चुपके ललित के घर की तरफ गई । लेकिन वहाँ सदर दरवाजे ही पर ताला डाला देख उसके होश उड़ गए ।

पड़ोस के एक बिसाती (दूकानदार) से पूछने पर पता लगा कि—लीला मर गई; ललित पारसाल से अब तक घर नहीं लौटा । उसका कहीं पता नहीं है, शायद वह भी..... ! नलिनी सुसराल गई और ललित के पिता भी, जो आजकल अब मरे-तब मरे हो रहे थे, अपनी दिहात की जमींदारी पर चले गए, उनके पटना लौटने की अब कुछ आशा भी नहीं है !

कानन ने बड़े ध्यान से जैसे पुराण की कथा सुन ली । घर आकर चुपचाप पलंग पर पड़ रही । इसी समय माँ ने उसके कमरे में हँसते हुए पदार्पण किया ।

—“क्यों, क्या हो रहा है बेटी ”?

“कुछ नहीं माँ, मन नहीं लग रहा था, यों ही जरा लेट गई ।”

“आखिर कहाँ तक मन लगे बेटी ? जब देखो तब किताब हाथ में ! फिर बड़े गौर से सिरहाने की तरफ देखती हुई बोली—हाँ, वह उधर तकिये के पास कौन सी किताब छुपा रक्खी है, बताओ तो भला ?”

“मेँ उसे क्यों कर छिपाऊँगी माँ ? वह तो खूब मशहूर किताब है—देवदास !”

“कौन देवदास ? वही न, जिसकी कहानी तुमने मुझे पिछले साल सुनाई थी ? तो अब फिर उसे ही क्यों पढ़ रही है ?”

“क्योंकि वह एक ही बार पढ़ कर समझ में आने लायक

किताब नहीं है मा ! इसीलिए उसे बार २ पढ़ती और अच्छी तरह समझने की कोशिश कर रही हूँ ।”

—“तो उसे समझे बिना बिगड़ा ही क्या जाता है ? क्या तुम्हें भी पार्वती.....ऊँ ? हाँ, पार्वती बनने का शौक हो रहा है ?”

“शौक क्या माँ ? मैं तो पार्वती हूँ ही !”

“पार्वती ? और तुम्हारा देवदास कौन है,—वही ललित ?”

“हाँ माँ !”

“हाँ माँ ? हाँ कहते ज़रा शर्म भी नहीं लगती ? तुम्हारे बाबा बगल ही के कमरे में बैठे हुए हैं ! उन्हीं ने तो मुझे तुम्हारे पास भेजा, पूछने के लिए, कि विभूति बाबू इंडिया लौट रहे हैं, २३ को बम्बई पहुँच जायँगे, वह कल उन्हीं से मिलने जा रहे हैं, सोचते हैं कि शायद विभूति की इच्छा तुम्हें देखने की भी हो, तो क्या तुम उनके (अपने बाबा के) साथ बम्बई जाओगी ? ज़रा जल्द २ करना है न बेटी ! इधर कई लोगों की आँखें उसी पर अटकी हुई हैं ! शादी उसी की मर्जी पर है । फिर ऐसा लड़का मशाल लेकर ढूँढ़ने से भी तो नहीं मिलने का !”

“सो सब ठीक है माँ, पर मैं बम्बई नहीं जाऊँगी !”

“नहीं जाऊँगी ? क्यों नहीं जाओगी ?”

“क्योंकि मैं शादी नहीं करूँगी ।”

“शादी नहीं करोगी ? देखो कानन, यह वक्त हँसी-मजाक का नहीं है । तुम्हें भी अगर पार्वती ही बन कर रहने की तबि-

यत होगी, तो रहना, मैं तुम्हें रोक्कूंगी नहीं, पर पार्वती ने भी तो शादी की थी न ?”

“खाक की थी ! पर खैर, मुझे उससे क्या ? वह गरीब थी न माँ, इसलिए उसे शादी किए बिना नहीं बन सकता था ! लेकिन मेरे लिए वह जरूरी नहीं है,—समझीं ?”

“अरे बाप रे बाप ! कहाँ है ललित ? अब मैं उसी को बुलवा कर पूछती हूँ कि उसने कौन सा गुरु-मंत्र तुम्हारे कानों में फूँक दिया जो तुम हमारी एक नहीं सुनती ?”

“उन्हें अब कहाँ से बुलाओगी माँ ? वह तो तुम्हारी ऐसी २ रीझ-खीझ से दूर,—बहुत दूर चले गए !”

“ऐं, चला गया ? तो जाय, अच्छा ही हुआ यह भी ! हाँ तो अब फिर तुम्हें किसका भरोसा रह गया है ? बतलाओ न साफ साफ ! या हमारी नाक ही कटाने पर उतारू हो गई हो ?”

“किसका भरोसा ? सिर्फ अपना अम्मा ! इस निठुर दुनिया में किसी का भी भरोसा करना धोका ही नहीं, पाप है !

और मुझे तो यह सुन कर बड़ा अचरज होता है कि मैं तुम्हारी नाक कटवाने की बात कह रही हूँ ! क्योंकि तुम लोगों के खयाल के मुताबिक तुम्हारी नाक तो तब कटती जब मैं आज विधवा हो चुकने पर भी फिर विवाह करने को कहती !”

“अरी, तू पगली तो नहीं हो गई ? तुझे विधवा कौन कहता है ?”

कानन

“मैं कहती हूँ माँ, और कौन अक्तमन्द आदमी कहेगा ? तुम जानती नहीं, मैं ललित को सच्चे दिल से प्यार करती थी ! और वह ? उसकी न पूछो, वह तो मुझ से हजार गुना ज्यादा मुझे मानता था । कितने दिनों तक मैं उसके साथ रही, पर उसने मुझ से कभी व्याह की बात भी न की, मेरा हाथ तक न छुआ ! आज वह इस दुनिया में नहीं रहा, शायद इसकी वजह भी मैं ही हूँ ! तो क्या अब मैं उसे भूल जाऊँगी ? जिसने मेरी व्याह न करने की पहली प्रतिज्ञा को अन्तिम छन तक पूर्ण करने के लिए अपने प्राण तक दे दिए, उसे सौ २ जानों से प्यार न करूँगी, प्रेमी या प्रिय पति न मानूँगी, तो मानूँगी किसे—पिता जी के पसंद किए हुए किसी मुए को ? जो पहली ही मुलाकात में मुझे आँखें फाड़-फाड़ कर देखेगा—जैसे मैं नथुनी उतरवाने की रुवाहिश रखने वाली कोई तवायफ़ होऊँ ?—और तब कहीं अपनी पसंदगी-नापसंदगी का पता बताएगा, धीरे से, तुम लोगों के कानों में सटकर !—ना-ना-ना, मैं शादी हगिज़ नहीं करूँगी माँ !

“शादी नहीं करेगी, तो मैं फाँसी लगा कर मर जाऊँगी !”

“और अगर तुमने जबर्दस्ती शादी करने की ठानी तब मैं फाँसी लगा कर मर जाऊँगी !”

“कानन !”—अब तक की बातें सुन कर उतरे हुए चेहरे से कानन के पिता, उसके पास आकर उदास मन से पूछने

लगे ।—“यदि मैं तुम्हें इतना नहीं पढ़ाता, तब तो आज ऐसी २ मनहूस बातें सुनने की नौबत नहीं आती ना ?”

“हाँ पिता जी”,—कानन ने भरी हुई आवाज़ से जबाब दिया ।—“किन्तु तब आपकी कानन आज की जैसी नहीं, निरी गधी होती, और आप उसे किसी भी धोबी को सुपुर्द कर सुख की नींद सो सकते थे ! लोग ऐसा हो अक्सर चाहते भी हैं—तभी वह स्त्री-शिक्षा के नाम से जल-भुन कर खाक हो जाते हैं, क्योंकि पढ़ने-लिखने पर अपने जीवन-मरण के विषय में कुछ स्वतन्त्रता-पूर्वक सोचने-समझने की ताकत आ जाती है न ! फिर ऐसा होने से साँढ़ और हिरनी का जोड़ा लगाना ज़रा टेढ़ी खीर हो जाता है !”

“तुम्हारा कहना ठीक है बेटी, पर लोग क्या कहेंगे ?”

“फिर वही “लोग-लोग” ? मैं पूछती हूँ पिता जी ! शादी मुझे करनी होगी या बक-बक करने वाले लोगों को ? आपको उनकी तो उतनी फिक्र है पर मेरी तनिक भी नहीं ?

“गधों को रेंकने के अलावा गाना भी आता है ? फिर आप रेंक के पीछे क्यों पागल हो रहे हैं ? खैर, आपको जो मर्जी हो कीजिए, पर मैं अब इस जीवन में दूसरा विवाह न करूँगी । सब सोच लीजिए, फिर अगर आप अपने घर में अभागिन कानन के लिए एक वित्ता जगह दे सकिए तो ठीक,

नहीं तो कोई बात नहीं, सामने ही गंगा की गोद मुझे खुशी-खुशी बिठलाने के लिए कभी से खाली पड़ी है !”

“कानन बेटा !”—माँ ने कातर स्वर से पुकारा,—“यदि सभी पढ़ी-लिखी लड़कियाँ तुम्हारी ही तरह हो जायँ, तो फिर यह दुनिया कैसे चले ?”

“दुनिया को ठीक तौर से चलाने के लिए ही माँ ! सभी पढ़ी-लिखी लड़कियों को मेरी तरह बनने की ज़रूरत है ! पर तुम कतई बेपरवाह रहो, उनसे ऐसा बनना हर्गिज़ पार न लगेगा । वह तो लक्ष्यभ्रष्ट, पथभ्रष्ट हो रही हैं, उनके जीवन का स्वप्न विलास के अतिरिक्त और कुछ भी नहीं । नित नया-नया ड्रेस, स्नो-पाउडर, अच्छी कार, थिएटर-सिनेमा—बस यहीं उनकी महत्त्वाकाङ्क्षा समाप्त हो जाती है । वह इस डाल से उस डाल पर उड़ने वाली तितलियाँ बनती जा रही हैं । इस तरह जब किसी काँटे में उनके पर उलझते हैं, तो कुछ छन चीखती चिल्लाती हैं या फिर नापाक तलाक़ की दुहाई देती हैं । और कुछ बेचारी, जो निरी गरीब हैं, उनके लिए तो कसाई समाज के हत्यारे हाथों में हमेशा चमचम चमकती पैनी, खूनी छुरी मौजूद है ही !”

“तो कानन !”—माँ बोलते-बोलते रोने लगी—“फिर हमारी इस सारी सम्पत्ति का क्या होगा ? तुम्हारे अलावा हमारा और कौन है !”

—“इसके लिए क्या सोचती हो माँ ? यह तो हमारे लिए खुश होने की बात है ! आज सारा का सारा देश भूखों-नंगों से भरा हुआ है, तुम्हारे पास भला यह कितनी सम्पत्ति है ? फिर मैंने तो यहाँ तक सोच लिया है कि कुछ दिनों बाद जब मैं माँ कहलाने लायक हो जाऊँगी तो सीधे अनाथालय जाकर वहीं से एक बच्चा माँग लाऊँगी ! क्यों, कैसा रहेगा ?”

कानन ने माँ-बाप के माथे पर जैसे हिमालय या विन्ध्याचल रख दिया हो ! और मुँह में जैसे जकड़ कर ताला जड़ दिया हो !—वह दोनों ही एकटक उसकी ओर बहुत देर तक ताकते रह गए !

(१०)

फिर कई वर्षों बाद । एक रात को कानन न जाने क्यों अक-चका कर जल्द जग गई ! अभी मुश्किल से तीन बजे थे । सब ओर कुहरा भरा हुआ था । गंगा की तरफ से बड़ी ही शर्द, कलेजे को छेद कर पार कर जानेवाली हवा आरही थी । और उसी समय कोई एक प्रभातफेरीवाला फ़कीर, शायद एकतारा बजा-बजा कर गाता हुआ सड़क से चला जा रहा था ! उसका दर्दिला स्वर साफ़ सुनाई पड़ता था —

“दूर देश है जाना !

जहाँ न कोई भी मेरा,

अपना जाना पहचाना !”

कानन

कानन के कोमल कलेजे को जैसे किसी ने बड़ी बेदर्दी से मसल दिया हो ! वह पगली सी जल्द-जल्द एकदम ऊपर, छज्जे पर जाकर, कुहरे के भीतर किसी को देखने की नाहक कोशिश करने लगी !

—‘वह कौन था ?’

माई-बहन

भाई का नाम था सुशील, बहन का शान्ति । शान्ति बाल-विधवा थी । घास-फूस का एक छोटा सा झोपड़ा, सील, जाँता, बाँस की छलनी, ऊखल-मूसल, धान और जौ से भरे दो-तीन मिट्टी के मटके,—यही सारी सम्पत्ति छोड़ और नन्हें, नादान सुशील की कोंपल सी कोमल उँगलियाँ उसके हाथों में थमाकर बाप ताप-पुर पधारे, माँ शोक-लोक सिधार गई थी ।

शान्ति के सुसरालवाले अन्वल दर्जे के शान्त थे । उन्हें उस मासूम की खबर लेने की ज़रूरत कभी भी महसूस न हुई । सोचा, शान्ति का बाप बेवकूफ थोड़ा है, वह फिर उसे कहों न

कहीं ब्याह ही देगा ! या न भी ब्याहे, तो अपने भरे-पूरे घर में नाहक ही एक और बोझ बढ़ालेना कहाँ की अक्लमंदी होगी ! राँड़-साँढ़ से बचने ही को तो बुद्धिमानी कहते हैं न !

शान्ति मालिन थी, वही—फूल-फल बेचनेवाली । गरीबी के सबब उसके कोई अपना बाग न था । वह जिस-तिस की फुलवारी से थोड़े-बहुत गिरे-ताज्जे फूल चुन लाती, माला गूँथ-गूँथ कर बेचती और दो पेट पालती थी ।

रामपुर गाँव की, जहाँ वह रहती थी, यह एक खास खूबी थी कि उसके उतने ही से दायरे में कई छोटे-बड़े देवालय थे, ऊँची-नीची सभी जात के धनी-गरीब, दानी-कंजूस,—हर किस्म के लोग रहते थे, अच्छी-बुरी कई-कई दूकानें थीं, जगह-जगह बाग थे, फुलवारियाँ थीं, गाँव के बिल्कुल ही पास-पास एक पहाड़ी नदी बहती थी,—शान्ति-जैसों के लिए यह कुछ कम सुशनसीबी की बात न थी ।

समय उड़ता गया । अब सुशील पाँच से नौ साल का हो चला । शान्ति भी लगभग सोलह-सत्रह की ।

“सुशील छोकरा बड़ा आवारा निकला, शान्ति को छोड़ वह और किसी से डरता ही नहीं”—पास-पड़ोस के बिरादरवालों से, जो उसकी हरकतों से बुरी तरह हैरान थे, ऐसे-ऐसे उलाहने, शान्ति को, जब-तब मिलने लगे । लेकिन शान्ति पर यों बेपर की उड़ाई खबरों, मूठी शिकायतों का कुछ भी असर न होता,

क्योंकि उसे सच्ची बात मालूम थी, और वह यह कि सुशील के बराबर दूसरा कोई सुशील लड़का उसके आसपास में न था ।

कितनी आकतों-तकल्लोफों के बीच से पिछले चार साल पार हुए थे ! उस समय सुशील को छोड़ कर और किस-किस ने उसके सुख-दुख में हाथ बटाया था—शान्ति अच्छी तरह जानती थी ।

खाट पर पुआल डाल, दोनों घुटनों के बीच, झूठमूठ ऊँच बने नीच माथे को दबोचकर जब वह जाड़े के दिन गिनती थी—तब उस वक्त उसकी गोद गर्म करनेवाला थर-थर काँपता बच्चा सुशील था । फूस की छाती छेद कर लपलप करती, जेठ के जलते सूरज की लू-लपटें जब उसकी गीली-गीली पलकों में गढ़े और चिनगारियाँ भरने आती थीं, तब उसकी छाती ठंडी रखनेवाला वही सुकुमार सुशील था । पर अब, जब वह उससे ज़रा अलग खड़ा होकर ज़मीन-आसमान की पहचान करने लगा, तो बस आवारा हो गया ! शरारती बन बैठा ! क्या खूब ? राई-नोन पड़े दुश्मन की फूटी आँखों में !

शान्ति की कनखियों का थोड़ा सा इशारा पाते ही सुशील जिस-तिस की फुलवारियों की ओर दौड़ पड़ता और कुछ ही छन बाद हँसता-हँसता रंग-विरंगे, ताजे-ताजे, गमगमाते, खिले-अधखिले फूल लिए वापस आजाता । लोग पुकारते ही रहजाते, पर वह एक साँस में दौड़कर अपने दरवाजे पर हाज़िर हो जाता—यही उसकी शरारत थी ।

शान्ति बड़ी मिहनत से हार गूँथती। फिर शाम को दो-चार हार सुशील के हाथ में देकर उसे गाँव के बाबुओं के पास भेज देती, बाक़ी को खुद लेकर बाज़ार की ओर चली जाती। अब उसे सब मिला कर रोज़ चार-चार आने पैसे तक मिल जाते। दोनों वक्त चूल्हा जला करता। कैसे तब भी विरादरवालों का दिल न जलता भला? शान्ति का इस तरह शान्ति से दिन गुज़ारना उन्हें नहीं अखरता तो अखरता किसे? तिस पर अब सुशील की देह भी ढँकी रहती। अब वह पहले जैसा दाने-दाने का मुहताज़ नहीं। अपने हमउम्र लड़कों से डरने का नाम तक नहीं लेता। उनके बुजुर्ग गार्जियनों के आगे अपने बेकुसूर कानों को पहले की तरह उमेठता भी नहीं फिरता। अगर यह सब उसकी आवारागर्दी नहीं तो और क्या था?

शान्ति की जितनी मिहनत और कारीगरी उसके हारों में पिरोई रहती थी, खरीदने वालों को, एक पैसा तो भला एक पैसा ठहरा, चार पैसे देने में भी कुछ उज़्र न होता। और सच तो यह कि अगर कहीं वही हार दिहात के पार शहर तक पहुँच जाते तो उनकी कीमत एक-एक पैसा बतलाना गुनाह ही नहीं, अपने को सख्त ख़तरे में भी डालना होता। ख़ैर। वहाँ उस गाँव में भी उसके हार के खरीदार रोज़ रोज़ बढ़ने लगे।

उधर बाबुओं के टोले में तो अच्छी खपत हो जाती थी। इस तरह ज्यों ज्यों माँग बढ़ती गई, शान्ति को हार गूँथने और

सुशील को फूल जुटाने में त्यों-त्यों बहुत मिहनत करनी पड़ी, त्यों ही त्यों पड़ोसियों के पेट में चूहे भी कूदने लगे। वे खुद तो वैसा हार बना नहीं सकते थे, क्योंकि उसमें ज्यादा फूल लगते थे, ज्यादा मिहनत लगती थी, और उन्हें कम मिहनत करके बहुत पैसे पा लेने की लत बहुत पहले से पड़ी हुई थी। दूसरे, एकाध उस क्रिस्म का बना लेने पर वे उसको क्रीमत कम से कम चार पैसे रखते थे। तब भी कोई नहीं पूछता था ! अगर लेने वाले उनसे शान्ति के सस्ते हारों की जिक्र करते तो वे बड़े ताव से तमक कर जबाब देते थे—हमारे फूल तो चोरी के नहीं हैं बाबू !

सचमुच ही उनके फूल मँगनी के न थे, पर इससे भी बढ़ कर सच्ची बात यह थी कि उन्हें पेट के लाले नहीं पड़े थे। अपने बाग़ थे, खेत थे, दो २ चार २ बैल भी थे। मज्जे से खेती करते, खाते थे। और मन हलका करने के लिए, चुपचाप बैठे रहने से बेहतर था, कभी-कभी कुछ देर पिंगल पढ़ लिया करते थे !

पैसे-पैसे वैसे हार बेचने में शान्ति की अशान्ति का जो प्रकट रहस्य था, वह उनके भीतर-बाहर—सब ओर से ठोस दिल और दिमाग़ में कभी नहीं आ सकता था !

(२)

“तो तू अब ब्याह क्यों नहीं कर लेती रे” ?—सन्ध्यासमय एक अघेड़ औरत ने नदीतट यानी पनघट पर अकस्मात् शान्ति

के सामने यह सवाल पेश किया। सुनते ही, साथ आई और-और औरतों की आँखें भी शान्ति की ओर एकाग्र हो गईं।

“यों ही मौसी !”—कहती २ शान्ति ने झटपट घड़े को धार में डुबो दिया। वह भव्-भव् करता हुआ भरने लगा।

“देख, तेरे ही लिए कहती हूँ बेटी ! कलजुग है न यह ? अभी तेरे दूध के भो दाँत नहीं टूटे ! सारी उम्र सूनो पड़ी है। इज्जत से आगे के दिन खेने के लिए अब ब्याह कर लेना भला होगा। फिर हम लोगों में तो यह रिवाज है ही। कुछ शिकायत नहीं। जानती नहीं, मैं ही तीसरी बार शादी कर तेरी मौसी हुई हूँ ?”

—“सो तो मैं नहीं जानती थी मौसी ! लेकिन हाँ, अब सोचती हूँ कि इस साल से अगले साल तक जैसे भी हो, पहले सुशील को ब्याह लूँ, फिर और कुछ देखा जायगा।”—शान्ति ने बात पलट दी।—“हाँ, मौसी ! काका से कहूँ,—वह कहीं लड़की की तलाश करने जा सकते हैं” ?

“उहँ, सुशील ! सुशील !! अरे अभी सुशील की शादी हुए बगैर बिगड़ा ही क्या है ? पहले तू अपनी तो देख, बेली-चमेली की तरह जवानी खिल आई है !”

—एक दूसरी जवान, हसीन औरत ने तान कर तीर मारा। शान्ति तिलमिला कर रह गई। उसे ऐसी चोट पहले कभी नहीं सहनी पड़ी थी। पर इतने पर भी उसकी एकदम चुप्पी मगरू-

की बेटी सोमरिया से नहीं सही गई। वह इधर-उधर ताक कर तपाक से बोली—

“कहो न काको, मैं साफ-साफ बता दूँ ? मैंने तो परसों ही काली काका, सिबू चाचा और रामू भैया के बातें करते समय सब कुछ जान-सुन लिया था।”—फिर शान्ति की ओर मुँह कर बहकी,—“बोल शान्ति ! कर दूँ भंडा-फोड़ ?”

शान्ति कुछ समझ न सकी। पर न जाने क्यों उसकी आँखों से चिनगारी सी निकलने लगी। सोमरिया को यह और भी बुरा मालूम पड़ा। वह खौल कर उबल उठी—

“ओह हो ! तू तो मुझे आँखें दिखाती है ? तो ले, सुनाती हूँ अब सब को। सुनो जी, शान्ति शादी क्यों नहीं करती—सो मैं बताती हूँ। काका कहते थे, जमींदार बाबुओं के घर अब इसकी भली भाँति पैठ हो गई है। हार के बहाने भीतर, हवेलियों में वेधड़क आने-जाने लगी है। और खास तौर से मुछंदर बाबू के बेटे से तो इसकी अच्छी जान-पहचान है !”

सोमरिया के मुँह से ऐसी अजीब बातें सुन कर सब ने एक ही साथ शान्ति को शनिदृष्टि से घूरा। और शान्ति ? वह चुप एक बगल घड़ा दबाए स्टेचू (Statue) बनी रह गई। कालिदास के शब्द-चित्र में “न ययौ न तस्थौ !” फिर जब योंही अंट-संट बक-झक करती, सब चली गई, वह भी धीरे-धीरे अपनी सूनी कुटिया की ओर बढ़ी, मा-बाप, और उसकी धरोहर की सजल स्मृति

में झूबती-उतराती हुई। सुशील को आँगन में न देख, उन्मन हो घड़ा रख दिया। फिर उसी की तलाश करने की गरज से कुटिये से बाहर निकल कर खड़ी हुई। साँझ के धुआँरे, मटमैले प्रकाश में देखा—सामने पेड़ पर दो खुशहाल पंछी कुछ अस्फुट, किन्तु मधुर स्वर से बोलते हुए चञ्चू-चुम्बन कर रहे थे। शान्ति की उसी ओर टकटकी बँध गई।

इसी समय सुशील हाथ में दो पके अमरूद लिए आ पहुँचा। शान्ति ने देखा तो उमड़ कर उसे गेंद की तरह गोद में उठा लिया, फिर चूमते-चूमते उसके गाल गुलाबी कर दिए। इधर दो-तीन वर्षों में शायद ही उसने सुशील को कभी इतने उच्छ्वास से गोद लिया या चूसा हो ! पर आज जाने कहाँ के वैसी उमंग, वैसी लहर लहरा आई ! सुशील अपनी सहज सरलता से उसको भरी-उभरी छाती से बार-बार फिसलते हुए आँचल पर अमरूद वाला हाथ फैला कर जब उसके लजीले-गीले गालों में अपने जूठे होंठ सटा दिए—तो न जाने कैसी सिहर से उसके प्राण तन्द्रिल हो उठे, अलस अँगड़ाइयाँ लेने लगे ! शायद वह सोमरिया द्वारा किए गए भंडाफोड़ की तरह इसे भी न समझ सकी ! पर हाँ, काफ़ी देर कर, बड़ी मुश्किल से, सुशील को ज़मीन पर उतार सकी !

बहुत दिनों के बाद अचानक इतना अधिक प्यार पाकर सुशील की बोली विलकुल बँध गई थी, अब लड़ी से टूटे उजले उजले

मोती के दाने की भाँति बिखरने लगी—“दीदी ! काली काका कहते थे कि उन्होंने तेरी सुसराल में खबर कर दी है, अब तू वहीं चली जायगी, और मुझे अकेला ही यहाँ रहना पड़ेगा ? तब तो वह मुझे बहुत पीटेंगे दीदी !”—बोलते २ उसकी आँखें भर आईं, कण्ठ बाष्प-गद्गद हो उठा ।

शान्ति ने उसे फिर से गोद में चिपकाते हुए कहा—“नहीं-नहीं सुशील ! तू फिजूल रोता है ! मैं तुझे छोड़ कर कहीं नहीं जाऊँगी ।”

सुनते ही सुशील का चेहरा गेंदे के फूल की तरह फूल उठा । शान्ति ने खट्टा-मीठा कह-कह कर फिर उसके अनगिनत चुम्बन लिये ।

(३)

देखते-देखते दिवाली नजदीक आ पहुँची । घर-घर में सफाई और सुफेदी दीखने लगी । इस साल शान्ति ने अपने भाई की बड़ी मदद पाई । ताड़-खजूर के पत्ते लगा २ कर अपनी टूटी-फूटी मड़ैया की मिहनत भर मरम्मत कर दी । महारानो लक्ष्मो के सुकुमार चरण-कमलों को मद्देनज़र रख, एक रोज़ पहले ही दरवाज़े के आसपास की घास छील कर उसने रास्ते को भली भाँति गोबर से लीप दिया । रात भाई के साथ साग-भात खाते वक्त प्रोग्राम बनाया—कल कम से कम सौ हार बनाने और बेचने का । अब जाड़ा भी काफ़ी पड़ने लगा था, ओढ़ने के

कानन

लिए एकाध गड़ेरिये के घर का बना कमक्रीमती कम्बल खरीदना निहायत जरूरी था ।

और चाहे जो हो । सुशील को सौ हारों के प्रस्ताव पर तनिक भी प्रसन्नता न हुई । उसे पूरा-पूरा विश्वास था कि—कल की भारी भीड़ में कम से कम सौ तो वह अकेला ही बेच लेगा । खैर, सब से बड़ा सवाल था—उतने फूल कहाँ से आएँगे ! सुशील ने मुछंदरबाबू (उनका असली नाम था बाबू मणीन्द्रनारायण सिंह । पर देहाती अपढ़ लोगों और उजड़ु लड़कों ने बिगाड़ते बिगाड़ते मणीन्द्र को मुछंदर कर लिया था । ऐसा करने का एक और असाधारण कारण था—गाँव भर के मर्दों में सिर्फ वही मूँछ मुड़वाया करते थे । कुछ दिनों तक, पढ़ते वक्त, कलकत्ते की हवा खाई थी । बिहारी,—गर्म चेहरे पर बंगालियों का ठंडा साया पड़ गया था ।) की हरी-भरी फुलवारी की याद दिलाई । फिर क्या था ? शान्ति की भी बाछें खिल गईं । उसने सुशील के मस्त-मस्त गालों पर एक-एक हलकी-हलकी चपत जमाते हुए पूछा कि उस फुलवारी का उसे पहले ही से कैसे पता था ! सुशील ने गाल सहलाते हुए बतलाया कि वह तो कई-कई बार वहाँ से फूल लेकर भाग चुका था ।

मणीन्द्रबाबू की वह पुश्तैनी फुलवारी जितनी ही पुरानी थी, उतनी ही घनी और डरावनी भी । यों ही लावारिश सी रहती थी । उन्हें उसके रहने न रहने का कुछ भी हर्ष-विषाद, हानि-

लाभ न था। जगह-जगह मधुमक्खियों और भौरों के छत्ते। रास्ते ही पर तीखे-कटीले झाड़ों की भरमार। लड़के तो दिन में भी वहाँ जाते हुए डरते थे। पर उस दिन दोनों भाई-बहन वहाँ बेखौफ, बेपरवाह तीन वजे रात ही को पहुँच गए और फूले-बेफूले फूलों का ढेर गट्टर बाँध कर सूरज निकलते-निकलते तक घर ले आए। सारा दिन फूल गूँथते-गूँथते बीता। शाम को ठीक पाँच बजते-बजते सुशील पचास-साठ गजरे बाँस की डाली में रख कर साफ़-सुथरी पोशाक से बाहर निकला। उसे देख कर पड़ोसियों की आँखें चिता की भाँति जल गईं। पर कुछ कर सकने की सामर्थ्य न रहने के कारण वे भीतर ही भीतर घुल कर रह गए।

मगरू ने तो भरसक अपनी ओर से बाज़ार भर में यह बात फैला भी दी थी कि दोनों भाई-बहन जिस-तिस की फुलवारियों से फूल चुरा-चुरा कर हार बनाते, बेचते हैं। पर एक-एक पैसे में उतना सुन्दर हार पानेवालों पर उसका प्रभाव उलटा पड़ा था। आखिर फुलवारीवाले उतने-उतने फूल खा तो सकते न थे, जब-तब सुशील या शान्ति को तोड़ते देख कर भी प्रायः कुछ नहीं बोलते थे। फिर परिस्थिति ने शान्ति को जैसा सावधान, सतर्क बना दिया था, वह होशियार भी खूब हो गई थी। एक ही फुलवारी के बहुत ज्यादा फूल तोड़ने या एक ही साथ कई-कई फुलवारियों से चुने हुए फूलों को

कानन

घर ले जाने की बेवकूफी करते उसे कभी किसी ने नहीं देखा था। उसने अपने तेज़अंदाज़ भाई को भी यह-ऐसी तालीम अच्छी तरह दे दी थी।

सुशील फूल-डाली लेकर मगन-मन बाबुओं की गली पार कर रहा था। बहन के हुक्म के मुताबिक कभी किसी के दरवाज़े पर नहीं चढ़ता था। जब कोई पुकारता, बड़े अदब से पास जाकर सलाम करता, फिर हार बेचता था।

“अबे ! इधर तो आ। इन गजरोँ की क्या कीमत है ?”

—सुशील ने सामने मुछंदर बाबू के बेटे को देख झुक कर सलाम किया, फिर बोला—“एक-एक पैसा बाबू !”

“चल मेरे साथ, अंदर आ तो !”—सुशील ने सहमते-सहमते ड्योढ़ी के भीतर पैर रक्खा। दो-चार सोने के गहने पहने, लगभग चालीस साल की एक पूर्ण वयस्क, किन्तु पूर्ण सुन्दरी स्त्री ने जब उसकी डाली पर निगाह डाली, सुशील ने ‘मालकिन’ कह कर उन्हें भी झटपट बंदगी की। मालकिन ने चुन-चुन कर अच्छे-अच्छे दस हार लिए। सुशील पहली ही बार दस पैसे पाकर हँसता हुआ निकला। बाहर के कमरे से फिर वही आवाज़ आई—

“इधर आ बे ! मा ने कितने गजरे खरीदे ?”

“उन्होंने तो दस लिए बाबू ! आप भी ले लीजिए न, हार बड़े अच्छे हैं,—दूँ ?”

“और क्या तुझे हाल-चाल पूछने के लिए बुलाया है यहाँ ?”

सुशील ने खुश होकर ज्योंही डाली में हाथ लगाया, उसके सामने फर्श पर ठन् से एक रुपया गिरा, हुक्म हुआ—‘सब गजरे रख दे !’ सुशील ने अचरज से काँपते-हाथों, टेबल पर सब हार सँभाल कर रख दिए, और बेशुमार खुशी से छलकती हुई हँसी को फड़कते हुए होठों में जबरदस्ती बाँध कर बोला—‘सलाम मालिक !’ फिर चलना चाहा ।

—“ठहर थोड़ी देर । तू ही शान्ति का भाई है न ?”

—“जी हाँ सरकार”—सुशील ने अपने पॉकेट में हाथ डाल कर जीवन में पहली बार, एक ही बार पाए हुए रुपये को दाबते हुए, डर कर जवाब दिया ।

“तेरा नाम क्या है ? मेरे बाग़ से रोज़-रोज़ तू ही फूल चुरा ले जाता है ?”

“जी नहीं सरकार ! काली काका ने आपसे मूठ-मूठ बतला दिया होगा । एक दिन मुझी से कहा था कि दीदी सुसराल जा रही है !” सुशील घबराहट में न जाने क्या-क्या बोल गया—मगर कैसा गजब का अन्दाज़ !

“तो क्या शान्ति सुसराल नहीं जा रही ?”

“नही मालिक ! वह तो मुझसे कहती थी कि—सुशील ! मैं तुझे छोड़ कहीं नहीं जाऊँगी !”

सुशीलकुमार के चेहरे पर एक अजीब मुसकान दौड़ गई ।
उसने बेताव होकर पूछा—“क्यों रे, तेरा नाम भी सुशील ही है ?”

“जी हाँ सरकार !” बच्चे को क्या मालूम कि उसके बूढ़े
बाप ने इन्हीं सुशील बाबू की देखादेखी उस अभाग के भी ऐसा
अच्छा नाम रख दिया था !

“तेरी दीदी कितनी बड़ी है रे—मेरे बराबर ?”

“नहीं मालिक ! आपने उसे देखा नहीं है ? वह भला
आपके बराबर क्या होगी ?” फिर अपने माथे पर हाथ सीधा
कर बतलाया कि बस इतनी ही बड़ी है !—सुशील बाबू ठहाका
मार कर हँस पड़े ।

—“तो तेरा काका झूठ बोलता है न सुशील ?”

—“जी हाँ बाबू !”

—“उसने मुझसे जितनी बातें बतलाई थीं वह सब झूठी
ही रही होंगी ?” बच्चे ने सवाल की गहराई समझे बगैर ही तोते
की तरह प्रतिध्वनि की—

“जी हाँ बाबू !”

“अच्छा जा, अपनी दीदी से कहना कि वह कल से एक
खूब बढ़िया हार मेरे लिए गूँथ कर दे जाया करे ! उसे और कहीं
बेचने जाने की जरूरत नहीं । मैं पूरे पैसे दे दिया करूँगा । और
देख, अब से फूल लाने के लिए भी कहीं न जाना, मेरी फुलवारी
से जितना दिल चाहे, ले जाया करना ! समझा ?”

“जी हाँ सर कार !”

“तो फिर जा। भूलना नहीं, मेरे लिए हार तेरी दीदी लाएगी, तू नहीं !”

“जी अच्छा सरकार ! सलाम !!”

(४)

शान्ति दीपावली के दिए जलाने की तैयारी कर रही थी, अबके बचे-खुचे हारों को बेचने की बारी भी उसी की थी। पर इसी समय सुशील को जल्द-जल्द लौटा आता देख उसके सारे सुनहले स्वप्न कुहरे में बिखर गए। सोचा, हार किसी ने नहीं लिए ! तो अब क्या करेगी वह ? सुशील कुछ दूर ही से दीदी-दीदी पुकारता हाथ में खाली डाली लिए पास पहुँच गया। एक रुपया, एक दुअन्नी और दो पैसे दीदी की हथेली पर सोचछास रखते ही उसे गोद का सुख नसीब हुआ, अमृतमय चुम्बन मिले ! उसने मचल कर मिठाइयाँ खरीदने को कहा, शान्ति ने उसे उसी तरह लिए-लिए घर में जाकर मिठाइयों से भरा हुआ एक बड़ा सा दोना दिया। वह दिवाली के दिन सुशील जैसे सनेही, नन्हें भाई को मिठाइयाँ खिलाना कैसे भूल सकती थी भला !

सुशील ने खिल-खिल कर खाते हुए पूछा कि—उसे इतनी मिठाइयाँ कहाँ मिलीं ! शान्ति ने भी उसके मुँह में एक पेड़े का टुकड़ा खिलाते हुए कहा कि—आज उसे इतने पैसे कहाँ मिल गए ! सुशील मिठाई की मिठाई से भरी भोली बोली बोला—

“दीदी ! दस हार तो हवेली में बिके, बाकी सब एक रुपया देकर मुछंदर बाबू के बेटे ने खरीद लिए !”

शान्ति की छाती में जैसे किसी ने चिकोटी काट दी, उसने धीरे-धीरे सुशील को ज़मीन पर उतार दिया। सोमरिया के तीखे व्यङ्ग याद आए। वह तो उन्हें जानती तक नहीं फिर यह सब क्या हो रहा है ! वह परेशान हो गई।—“तो तू ने उन्हें दिए क्यों सुशील ? क्या और कोई खरीदता ही नहीं ?”

सुशील की समझ दुहाई देने लगी।—“क्यों दीदी ! तू यह क्या कहने लगी ? उन्होंने तो अब से हमेशा अपनी फुलवारी के फूल तोड़ने का हुक्म दे दिया और कहा कि अपनी दीदी से बतलाना, वह मेरे लिए रोज़ शाम को एक बढ़िया हार दे जाया करे। मैं खूब पैसे दूँगा। और कहीं बेचने जाने की कुछ भी ज़रूरत नहीं। सुनती है दीदी ? मैं अब से सब के सामने ही खूब फूल ले आया करूँगा। तू उनके पास एक हार ले जाया करना। और उन्हें कैसे पता लगेगा ?—मैं बाज़ार जाकर बहुत-बहुत बेचा करूँगा ! खूब पैसे जमा हो जायँगे। फिर मेरा भी ब्याह कर देना दीदी ! हरिहरवा का तो ठीक हो चुका !”

—सुशील दीदी की आँखों से आँसू का झरना झरते देख एकाएक अकचका कर चुप हो गया। तब शान्ति ने जबर्दस्ती हँस कर पूछा—“तो अब ब्याह करेगा सुशील ?”

“हाँ दीदी ! पर तू रोती क्यों है ?”

“रोती हूँ न कि जब बहू आ जायगी, वह मारपीट कर मुझे घर से बाहर निकाल देगी, फिर मैं कहाँ जाऊँगी ?”

“बहू मारती भी है दीदी ? तब तो मैं हर्गिज ब्याह न करूँगा ।”

शान्ति खूब खुल कर हँसी ।—“हाँ सुशील, तू अभी पानी पीकर चला जा तो उन्हीं बाबू के घर ! सलाम करके कहना कि दीदी रुपया नहीं रखती । उसकी तबियत बहुत खराब है । वह कल से हार देने भी न आ सकेगी ।”

चपल सुशील झटपट आँगन में निकल आया । दीदी दिए की बत्ती उकसाने लगी । सुशील की आँखें सामने उन्हीं बाबू साहब को देख कर पथरा गई । उसके प्राण सूख गए । वह उलटे पाँव दीदी के पास लौट कर धीरे से कान में कहा कि वह तो यहीं आँगन में खड़े हमारी बातें सुन रहे थे । शान्ति को यह बड़ा बुरा लगा, उसने घबराकर बाहर निकलते ही कहना शुरू किया—

“आप मुझे जिस-तिस से साँठ-गाँठ चरनेवाली खानगी समझते हैं क्या ? किसकी खोज में निकले हैं इस वक्त ? कोई भला आदमी देख ले तो कल सुबह से मुँह दिखलाना भी मुश्किल हो जाय ! कुछ समझ में नहीं आता, कौन इस तरह दलाली करता फिर रहा है कलमुँहाँ ?”

“लेकिन मैं तो लोगों को दिखलाने के लिए ही दिवाली की

कानन

उजियाली में तुम्हारे घर आया हूँ। मुझे तुम्हारे बारे में जैसा कुछ बतलाया गया, मैं यहाँ आने को लाचार हो गया। सोचा, छुप कर पाप करने से खुल कर पुण्य करना बहुत बुरा नहीं है।”

“यह लीजिए अपना रुपया, इस तरह मुझ जैसी गरीब-मासूम बाल-विधवा को रुपये पैसे की लालच दिखलाना आपके लिए पुण्य नहीं, पाप है बाबू!”

“तो न मुझे पाप का डर है, न किसी के बाप का। रही बात तुम्हें यहाँ मेरा आना बुरा लग रहा है, सो मैं तुरत लौटा जाता हूँ। रास्ते भर सुशील को पुकारता आया, पर वह उछलता-कूदता आगे बढ़ता गया। मेरी पुकार नहीं पहुँची, तब मुझे पहुँचना पड़ा। खैर। मैं जताने आया था कि कल से तुम्हें मेरे लिए द्वार लाने की कोई ज़रूरत नहीं। यह और दस-दस के पाँच नोट हैं, इन्हें भी रख लो। अपने और सुशील के लिए कपड़े-वपड़े बनवा लेना। मैं तुम्हें खानगी बनाने नहीं आया, खानगी बनने से बचाने के लिए आया हूँ। पेट की मार किससे क्या नहीं करा देती शान्ति? मैं जानता हूँ, शायद ही कोई अभागिन औरत शोक से खानगी बनती है।”

लाजवाब जवाब सुन कर शान्ति का क्रोध उदासी में बदल गया। वह सिसक कर बोली—

“लेकिन मैं तो नहीं लूँगी बाबू! लोग मेरे हाथ में नोट देख

कर क्या सोचेंगे ? नहीं-नहीं, आप इन्हें अपने ही पास रखें, मेरे दिन मजे से कटे जाते हैं ।”

“खैर लो, न लो, यह नोट तुम्हारे हैं । मैं शायद हफ्ते भर बाद बनारस चला जाऊँगा । कौन जाने, फिर तुम से भेंट हो या न हो !”

सुशील बाबू दोदी को छाँह में छुपे हुए गुप-चुप सुशील के हाथ में ज़बर्दस्ती नोट थमा कर चपल-पद चल पड़े । उनके बूट की मच-मच आवाज़ देर तक शान्ति के सूने कानों में गूँजती रही, और उनके बाज़-बाज़ अलफाज उसके उदास, उन्मन प्राणों में ।

(५)

बाबू सुशीलकुमार मणीन्द्रनारायण सिंह के बड़े लड़के हैं । स्वभाव के सीधे-सच्चे, परम पवित्र, नर्म दिल । गाने-बजाने के अच्छे शौकीन । कहते हैं, सिर्फ अलजबरा और ज्यामेट्री कोर्स में कंपलसरी न रहने से उन्हें मैट्रिक्युलेशन के लिए सात बार सलीमेंट्री में बैठने की ज़रूरत न पड़ती ! इधर एकोनौमिक्स और लॉजिक से भी उन्हें वर्षों से शिकायत रही । अब इसीलिए चार बार इन्टर में फेल कर चुकने पर पाँचवा सवार बनने का हौसला छोड़ कलकत्ता, बंबई, बनारस, लखनऊ की सैर करते फिरते हैं । उम्र बाईस-चौबीस, सुन्दर-सुडौल, बड़ी-बड़ी आँखें ।

मणीन्द्रनारायण वैसे तो देहाती ज़मींदार हैं, पर परगने भर में, रुपये और ज़मीन में उनका मुकाबला करनेवाला कोई नहीं है। सुशोल बाबू की फिज़ूलखर्ची पर वह छनभर खीझते-चीखते हैं, फिर झख मार कर चुप हो रहते हैं। बात यह है कि सुशोल बाबू ने ब्याह तक करने से साफ़ साफ़ इन्कार कर दिया है। कहा है,— वंश-विस्तार के लिए उनके भुंड के भुंड छोटे भाई ही काफ़ी हैं। इसीलिये इस बार जब उन्होंने बनारस में दो-चार वर्ष बिताने की इच्छा प्रकट की, सिर्फ़ सौ रुपये मासिक के साथ, तो स्वीकृति मिलते देर न लगी।

सुशोल बाबू तन्द्रिल पलकों से बनारस के सरस स्वप्निल चित्र देखते हुए बाहर बरामदे में आर्मचेयर पर झूल रहे हैं। एक बिल्ली बहुत देर से उनकी तरफ़ टकटकी बाँधे राह पार करने की राह देख रही है, पर उनकी गुमराह निगाह उस ओर फिरती ही नहीं, मानों गुनाह करने पर तुली हुई है। इसी समय वह माली बच्चा सरपट दौड़ता दीख पड़ा। पीछे पछताने के लिए यह ऐसा मौक़ा खोना बुरा लगा। उन्होंने छुटते ही पुकारा—

“अरे सुशील ! सुन तो, इस तरह भगा क्यों जा रहा है ?”
सुशील झेंपता-भेंपता पास आया—“सलाम मलिक !”

“मेरी फुलवारी के फूल हैं न ये ? कोई कुछ कहता तो नहीं ? और कहेगा की क्या ? बस इसी तरह रोज़ ले जाया करना, समझा,—? अब मैं तो कल जा रहा हूँ, शान्ति को बतला देना।

हाँ रे, तू चार-पाँच दिनों बाद क्यों दिखा ? रोज़ इधर नहीं आता क्या ?”

“आता था बाबू ! दीदी की बीमारी की वजह से इधर चार-पाँच रोज़ नहीं आ सका ।”

“क्यों, क्या तेरी दीदी बीमार हो गई है ?”

“हाँ सरकार ! उस रोज़, आपके लौटने के बाद से ही ।”

सुशील बाबू के प्यासे प्राण उसासों लेने लगे ।—“तो तूने मुझे खबर क्यों नहीं दी ?”

“दीदी ने मना कर दिया था बाबू ! आप से उसे बहुत डर लगता है !” सुशीलबाबू उन नोटों की बाबत पूछना चाहते थे, पर बोली खुली नहीं । तब तक वही बड़बड़ाने लगा—

“दीदी ने आप के दिए हुए नोटों में आग लगा दी, रुपये को पत्थर से कुचल कर फेंक दिया । घर में जो पैसे थे उसी से आज तक चला । अब कल से क्या होगा !—सोच कर फूल तोड़ने निकला था । आपकी फुलवारी में नहीं गया था बाबू, दीदी ने मना कर दिया है ।

सुनते ही सुशील बाबू को जाने क्या हो गया ! उन्होंने बच्चे को कस कर एक चाँटा मारा । उसके सारे फूल ज़मीन में दूर तक बिखेर दिए । फिर डाँट कर कहा,—“अब जा, मेरी फुलवारी से जितना जी चाहे फूल तोड़ कर लेआ । मैं अभी-अभी तेरी दुलारी दीदी के पास जा रहा हूँ ।”

बच्चे को रुलाई नहीं आई। वह चुपचाप बारा की ओर चला गया। सुशील बाबू शाम की बाट जोहने लगे।

(६)

“क्यों, तुम्हें मुझ से इतनी नफरत है कि नोट तक जला दिए? अगर वह तुम्हें काट रहे थे, तो मेरे ही पास भेजवा देतीं, किसी और गरीब के काम आ जाते!”

“.....”

“तो रोती क्यों हो? मैं यहाँ जमींदार बन कर तुम्हें दण्ड देने नहीं आया। सुशील ने जब बतलाया, मुझे दुख हुआ। पर तुम्हारे पवित्र शील स्वभाव का खयाल कर खुशी भी कम नहीं हुई। इस बिगड़े हुए जमाने के भी सब पुरुष कुत्ते ही नहीं होते शान्ति!—एक बार ज़रा विश्वास करके देखो!”

“बाबू.....”

“घबराओ नहीं। चुपचाप लेटी रहो। मैं किवाड़ बंद कर दे रहा हूँ, कोई यहाँ नहीं आएगा।”—सुशील बाबू शान्ति की देह गर्म देख प्यार से उसके सुकुमार केश-पाश पर हाथ फेरने लगे। शान्ति अत्यन्त शिथिल दृष्टि से उनकी झुकी पलकें निहारने लगी।

—“सुशील कहाँ है?”

“तुम्हारे ही पास बैठा हुआ। मेरा नाम भी सुशील ही है शान्ति! बताओ, तुम्हें क्या चाहिये? पानी पिओगी?”

“नहीं,—मेरा सुशील कहाँ है बाबू ” ?

“ओह ! तुम्हारा सुशील.....? हाँ, उसे तो मैंने बाग़ भेज दिया था, पर अब वह भी आता ही होगा ! ”

शान्ति ने अभी हिचक-हिचक कर रोना शुरू ही किया था कि सुशील काँटों से क्षत-विक्षत, डाली भर फूल लिए बाहर ही से दीदी को पुकारता आया। अन्दर सुशील बाबू को देखकर उनकी सारी शिकायतें पीकर रह गया। सिर्फ़ इतना ही कहकर ढेर हो गया कि आते वक्त उसे साँप ने डँस दिया है !

शान्ति सुशीलबाबू के बहुत मना करने पर भी ज़ोर-ज़ोर से रोने लगी। उन्होंने खुद बच्चे की नीली जीभ, और फेन उगलना देख जेठ की लू सी गर्म साँस छोड़ी। शान्ति का करुण-क्रन्दन ज्यों-ज्यों ऊँचा उठता गया, त्यों ही त्यों सुशील का दिल बैठने लगा। आखिर वही हुआ, जो नहीं होना चाहिए था। अड़ोस-पड़ोस के लोग-बाग़ इकट्ठे होने लगे। मगर सुशील बाबू को देखते ही किसी को सुशील नहीं दिखा। अब के ‘काली काका’ आए। पहले यह भी बाबू को घूर कर मुसकियाए, बाद बच्चे पर नज़र पड़ते ही उसे बाहर उठा लाए। सारी रात साँप के मंत्र पढ़े गए। दवाएँ दी गईं। पर सुशील ने लाख बार पुकारने पर भी शान्ति को ‘दीदी’ नहीं कहा।

सुशीलबाबू रोहित की कहानी, शैव्या का विलाप और हरिश्चन्द्र की सत्य-परीक्षा के दृश्य देखते रहे। आखिर सुबह

कानन

होते २ लोग ज़बर्दस्ती शान्ति की गोद से सुशील को छीन ले गए ।

दिन भर साँप काटने का कारण जानने के लिए शान्ति से तरह-तरह के सवाल पूछे जाते रहे, पर शान्ति के जबड़े जैसे बर्फ़ से जकड़ गए थे—ज़बान किसी भी तरह नहीं खुली ।

(७)

सप्तमी का चाँद डूब चुका है । सब ओर अँधेरा ही अँधेरा दीखता है । राह में एकाएक किसी का स्पर्श पा काँपती हुई शान्ति चीख उठी । काला ओवरकोट और नाइट कैप ढाँटे सामने सुशील बाबू खड़े थे ।

—“इतनी रात को यह गट्टर लेकर कहाँ चलीं ?”

आवाज पहचान कर शान्ति ज़रा होश में आई । बुखार और लगातार दिन भर रोते रहने से बोली में काफी रुखाई आ गई थी ।—

“छोड़िए भी, अब बहुत हुआ सुशील बाबू ! किस लिए घेर रहे हैं मुझे ? अभी और कुछ लेना बाक़ी रह गया है क्या ? मैं अपने भाई को उसके ये कपड़े पहनाने जा रही हूँ !”

—“तो चलो न, मैं भी साथ चलता हूँ !” सुशील बाबू से आँसुओं का ज्वार रोकते न बना ।

“ओह ! आप नहीं बाबू, मैं अकेली ही जाऊँगी । आपके

सामने मेरा भाई कुछ नहीं बोल सकेगा ! कल नहीं देखा—वह कुछ भी नहीं बोला । वह आप से बहुत डरता है ।”

“झूठ शान्ति ! तुम्हारा भाई नहीं डरता, तुम डरती हो । लाओ तो उसके कपड़े, देखूँ भला, कैसे सुशील नहीं पहनता है ?”

पगली शान्ति का न जाने किस आशा से, किस आवेश से हाथ उठ गया ! उसकी आँखों में इतने आँसू थे कि वह कुछ भी नहीं देख सकी !—और सुशील बाबू ने गद्गर खोलने से पहले अपना ओवरकोट खोलकर उसे सँभाल कर ओढ़ा दिया । फिर उसके भाई के कपड़ों को खुद जैसे-तैसे लपेट-वपेट कर बच्चों की तरह विलखने लगे—

“पहचानो बहन ! मैं तुम्हारा ही भाई हूँ न ? एकबार पुकारो तो—‘सुशील’—!”

“सुशील बा.....!”

“नहीं-नहीं, बाबू नहीं शान्ति ! सिर्फ सुशील कहो ! रोती क्यों हो ? विश्वास करो, तुम्हारा भाई मरा नहीं, कुछ बड़ा हो गया है ! एकाएक बढ़ गया है—इसीलिए तुम उसे जल्द नहीं पहचान रही हो !

“अच्छा, अब चुपचाप मेरे साथ चली चलो, कुछ पूछो नहीं, आगे खुद सब समझ जाओगी !”

(८)

सुबह होते-होते यह खबर आँधी की तरह सब ओर फैल

कानन

गई। मुड़ी मूछ पर उँगली फेरते हुए मुछंदर बाबू बोले—
“अब भेजता हूँ कमीने ! महीने में सौ की जगह दो-दो सौ
रुपए !”

नौकर-चाकर एक दूसरे का मुँह ताकते रह गए।

गाँव वालों ने तै किया,—“आँखों में गड़ गई थी, तभी तो
मुशील शादी नहीं कर रहा था !”

काली काका—“पौ बारह” कह ठहाका मार कर हँसे।

बिरादर की बूढ़ी औरतें खानदान की कालिख मेटने के
लिए सूरज को दंडवत् प्रणाम करने लगीं।

और सोमरिया भी भवें तान कर पूछने लगी—“सच कहा
था न मैंने मौसी ? गदराई हुई जवानी !—कैसा फाँसा ज़मींदार
के लड़के को ! ओवाह री रंडी !!

(९)

“भैय्या तुम मुझे कहाँ ले जा रहे हो ?”

“अपने साथ रखने के लिए शान्ति ! यहाँ लोग मुझसे तुम्हें
छीनना चाह रहे थे न ? लेकिन तुम्हीं बताओ तो—बिना शान्ति
के मैं कबतक जीवित रह सकता हूँ ? अब जिन्दगी बिताऊँगा तो
शान्ति के साथ और मरूँगा भी तो शान्ति ही के साथ !”

“मुशील भाई.....!”

“शान्ति बहन !.....!”

गंगा

गङ्गा खूबसूरत ही नहीं, खूब खूबसूरत थी। उसके अङ्ग-अङ्ग में चंपे का रङ्ग था; होठों, हथेलियों और तलवों में जवाकुसुम का; गालों पर गुलाब का।

वैसे उस जैसी तसवीर देखने की तकदीर कम कलाकारों की होती है, पर वह सब मिला कर तसवीर जैसी नहीं, ज्योति के एक ही रंग में रँगी, तसवीर की एक ही रेख सी देख पड़ती थी।

जान पड़ता है, कुदरत ने उसे यह ऐसी रंगीनी दिखलाने के लिये ही दी थी, तभी इसे छुपा रखने लायक कपड़े नहीं दिये थे। कुछ मुमानियत नहीं, कोई भी उसे इतमीनान से जी भर देख सकता था, वह एक गरीब ग्वाले की लड़की थी।

शाम का वक्त । पतझड़ के दिन । आलस्य और उदासी के कण बिखेरती हुई बयार । रामदयाल अग्रवाल के बाग़ में, कुँए के पास, ख़यालों में खोई-खोई सी गङ्गा बाँएँ पैर के अँगूठे से ज़मीन खुरचती खड़ी थी । मुझे अचानक आया देख, मौलसिरी की छाया में छुपकर, उभरा-फिसला आँचल सँभालने लगी । मैंने पूछा—

“यों इस जगह खड़ी २ क्या सोच रही है ?”

“कुछ नहीं बाबू ! वैसे ही खड़ी थी । मन नहीं लग रहा था ।”—तीन साँस में, रुक-रुक कर इतनी सी बात बता सकी ।

“हुँ ! फिर मन लगाने का कुछ इन्तज़ाम किया ?”—मैंने मज़ाक से पूछा ।

शर्म से उसकी गरदन झुक गई, जब ऊपर नज़र उठाई तो आसमान के लाल-लाल बादलों में गड़ा दी ।

“अच्छा, अब जाता हूँ”—कहकर झूठमूठ मैं दो-चार क़दम बढ़ गया ।

उसने कहा—“क्यों ? डेरे पर कोई ज़रूरी काम है ?”

“अभी तो नहीं है, लेकिन जाने पर हो जायगा !”—कहते-कहते मुझे हँसी आ गई ।

गङ्गा भी मेरी हँसी की धार में गोते लगाने लगी ।

मैंने छूकर पूछा—“कब ब्याह होगा तेरा ?”

“दुत ! तो क्या मैं काँरी हो हूँ ?”—तनिक तुनक कर बोली वह ।

“ऐं ! तू ब्याही है ? तेरा शौहर कहाँ है फिर ?”

सवाल जरूर बेढंगा था, पर जब ज़बान से बाहर निकल चुका था, मैं क्या करता ? उसके भी, जैसी उम्मीद थी, होंठ तक न हिले । मैं भेंप गया । छन भर रुक कर उतरे हुए चेहरे से उसकी तरफ़ ताका,—वह जैसे परी की तरह ऊपर उड़ जाने को पर मार रही थी ।

“समझे न ? वह कभी मर चुका !” उसने मुझे लाज की मझधार से उबार लिया । पर कैसी थी यह बात !—मैं बुरी तरह बिध गया ।

“सचमुच गङ्गा ? लेकिन तू तो काँरी या सुहागिन सी दीख पड़ती है ? क्या हुआ था उसे ?” मैंने जैसे एक लम्बी साँस खोंची ।

“होता क्या ? हैजे में मर गया था शायद ! मुझे तो उसके बारे में कुछ भी नहीं मालूम !”

बातचीत के सिलसिले से पता चला, गङ्गा शिक्षक-शिक्षक कर बोलती-बोलती अब धीरे-धीरे खुलने लगी थी । मुझे खुशी तो हुई, पर डर भी कम नहीं लगा । क्योंकि डेरे में मैं अकेला न था । जो साथी थे, उन्हें मेरी यह हरकत हर्गिज पसन्द न आ सकती थी ।

वह कहते थे,—उनकी आँखों में खूबसूरती का जैसा नक्शा बसा था, उसके मुक्काबले गोरी गङ्गा काली कालिन्दी नज़र आती थी ।

पुराने ज़माने में विरहिणी स्त्रियाँ कौए का शकुन शुभ मानती थीं । खुश होकर उसे सोने से चोंच मढ़वाने और दूध भात खिलाने की लालच देती थीं । मैं सुनहली-चोंचवाले दूध-भात खाते वैसे ही एक कौए का खाका खींच कर दिखा चुका था, मेरे दोस्त को वह छवि पसन्द आई थी, उन्होंने कहा था—“बस-बस, आज यह दूसरी बार सौन्दर्य का चमत्कार देखने को मिला !”

सिनेमा-स्टारों की प्यारी-प्यारी तस्वीरों से हमारा कमरा Album बन रहा था । और उनके चुनाव में उन्होंने जी-तोड़ क्या ? कमर-तोड़ मिहनत की थी । रोज़ शाम को पान की गिलौरियाँ मुँह में डाल कर खूबसूरती का बाज़ार ऐनक से झाँक आते थे । फिर भी उनका दावा था—वह कोई ऐसे-वैसे नहीं, साक्षात् शंकर थे; छोटे-मोटे नहीं, महान् थे ।

“हाँ तो”—मैंने जल्द डेरे जाने का भाव प्रकट किया—“अभी यहाँ रहूँगा ही गङ्गा, फिर स्थिर से तुझसे बातचीत करूँगा,—ऐं ?” वह तहजीब से ताकती रही, मैं अपने दोस्त की दहशत से चुपचाप चला गया ।

(२)

गङ्गा अपने माँ-बाप और दो भाइयों के साथ, किराए पर लिये हुए मेरे डेरे के नीचेवाले हिस्से में रह रही थी। पूजा की छुट्टी बिताने मैं घर चला गया था, लौटने पर डेरे को वङ्गाल की खाड़ी बना देखा, तबतक उसमें गङ्गा जो मिल चुकी थी ! दो ही चार घण्टों बाद मुझे उसके पूरे परिवार से परिचय हो गया। मेरी पोशाक, मेरी जवान की सफाई ने मुझे 'बाबू' कहने के लिए उन्हें लाचार कर दिया।

फिर मैं ऊपर, दुमंजिले पर भी था। हर तरह वह मेरे मुक्ताबले नीच थे, ओछे थे।

मेरी लम्बाई और मेरे साथी की चौड़ाई ने मिलकर एक ऐसी अर्धनारीश्वर जैसी युगल-छवि का सृजन किया था,—जिसे गङ्गा ही क्यों ? चार मुँहवाले कमसिन ब्रह्मा, पाँच मुँहवाले नावालिग शिव, छः मुँहवाले क्कारे कार्तिकेय और हजार मुँहवाले हसीन शेषनाग भी ज़रा कौतुक से देखते !

बीच-बीच में गंगा से गुप्तगू चलती रही। उसे मेरी दिल्लगियाँ भाती थीं—बात की बात में मैंने भाँप लिया। फिर मेरे गुन-गुन-गुन गाए जानेवाले नमकमसालेवाले गाने तो जादू की तरह हर शख्स के सर चढ़कर बोलते थे, गंगा तो भला कुछ-कुछ गाना भी जानती थी। मेरा खयाल है, ज़रा खाँस कर, हिन्दी के अत्याधुनिक प्रगतिशील कवियों की भाँति नक्की स्वर

कानन

से जो कुछ भी गाया जायगा, उससे थोड़ी बहुत गंगा की तान की समानता जरूर होगी ।

उससे भेंट होने के लगभग चार रोज़ बाद लगभग चार ही बजे मैं कॉलेज से थका लौटा बिस्तर पर लेटा था । मकान-मालिक का बेटा नीचे किसी से बिहँस-बिहँस कर बातें कर रहा था । उसकी आवाज़ ज़रा ऊँची थी,—आठ-दस महीनों की पहचानी । मैंने खिड़की में कान लगा दिए ।

“....—मुझ में ऐसी कौन सी खूबी है कि कोई मुझे प्यार करेगा ?”—गंगा बह रही थी ।

—“सो तो तुम नहीं समझतीं, लेकिन आज दस दिनों से मेरे दिल में जो आग लगी हुई है, उसे गंगा के बग़ैर बुझा भी कौन सकता है ?”—यह थी उस कम्बख़्त बेटे की बात, जिसका बाप उसके दिल की ऐसी आग में हजार बार जल कर भी अभी जी रहा था । वह कहता गया—

“तुम नहीं जानतीं कि क्यों लोगों के लाख मना करने पर भी मैंने तुम्हें यह डेरा दिया । सब बेवकूफ़ हैं,—खासतौर से ऊपर के कमरे वाले तो बिलकुल गोबरगनेस हैं, तुम्हें यहाँ किसी भी किस्म की तकलीफ़ नहीं होने देने का ठेका मैं लेता हूँ । बिलकुल बेफ़िक्र रहो, बताओ, आज डेरे के खर्च के लिए कितना दूँ ?”—कहते-कहते उसने खूब अच्छी तरह बजा कर एक रुपया दिया ।

अब तक मैंने खिड़की को कान ही दिए थे, लेकिन इस तरह एक बेकुसूर के कान कटते देख आँखें भी दे दों। गंगा की हथेली उस बेटे की मुट्ठी में थी। बग़ैर बुरी बूलगे भी जाने क्यों मेरे मुँह से थोड़ी सी थूक निकली, और हाय-हाय, वह सीधे उसी के सिर पर गिर पड़ी। वह देखता क्या—अपना सिर ? तबतक मेरा मुँह तकिए में छुप चुका था। बेटा सिर खुजलाने लगा होगा ! और उसकी मुट्ठी से बाहर निकल कर गंगा तो सचमुच ही खुल कर खिलखिला उठी।

मैंने मानो हिमालय से पुकारा—“क्या हुआ गंगा ?”

“कुछ नहीं, कुछ नहीं”—कहती हुई वह हँसती ही रही। मुझे उतरते देख उस बेटे का चेहरा उतर गया, वह चलता फिरता नज़र आने लगा। मैंने पूछा—“हँसी को बौछार से किसे नहला रही थी ?”

उसने उस रुपए को बजाते हुए बतलाया—

“आज आपके डेरे का खर्च इतने से चल जायगा या और दूँ ?” हम दोनों हँसते-हँसते दोहरे होगए।

“बड़ी बेहया है तू तो ! मैं तुझे भोली समझता था। कहीं ऐसा भी किया जाता है ? उससे इस तरह जान-पहचान बढ़ाने का नतीजा भी सोचा है कभी ?”—मैंने आर्य्यसमाज के उपदेशक की तरह भड़कीला भाषण किया।

“फिर मुझे क्या हुक्म देते हैं ? आप जैसे लोग तो मुझपर

मेहरवानी कर नहीं सकते, फिर मेरा गुज़ारा कैसे चलेगा ?”—
गंगा ने लू सी साँस छोड़ी। मैं क्या जानता था कि यह सब
उसकी मर्जी से हो रहा है। उसका हिंजड़ा बाप, रोकने की कौन
कहे, उसे बुराई की तालीम दे रहा है ! मैंने दोनों बाहें पकड़
कर उसे मुँह के सामने खड़ा कर पूछा—

“दूसरी शादी क्यों नहीं कर लेती ?”

“फिर इन लोगों का क्या हाल होगा बाबू ?”—उसकी आँखें
डबडबा गईं।

“तो तू क्या चाहती है ?”

“कुछ नहीं, सिर्फ मा-बाप और दोनों छोटे भाइयों को किसी
तरह जिंदा रखना ! बापू दरवानी करते थे राज में। एक महीना
हुआ, नौकरी छूट गई। माँ को देख ही रहे हैं, अंधी है।
और.....”

“हाँ, समझा। इसी लिए.....!”

“यही जो अभी एक रुपया दे गया है। आए दिन से तीन
रुपये दे चुका। रोज़ छेड़छाड़ कर रहा है। मा से कहती
हूँ, तो—वह भी सलाह देती हैं, उसे किसी तरह खुश
रखो। बापू को नौकरी देने के लिए कह गया है। कोठरी
रहने के लिए मुफ्त दी है। फिर मैं आप ही से पूछती हूँ कि क्या
करूँ ?”

“एक बात मैं भी पूछूँ, बताएगी ?”—मैंने मानो इम्तहाँ लेना शुरू किया ।

“इतने से भी विश्वास नहीं होता ?”—कितना मीठा, पर दर्दीला गला था वह !

“तो सच कह, अभी तक तू पवित्र है ?”—मैंने बेशर्मी की हद कर दी ।

“पवित्र ?”—उसकी आँखों ने आँसुओं की झड़ी लगा दी ।

मुझे अपने पर बड़ा गुस्सा मालूम हुआ । कैसी बेसिरपैर की बातें करता रहता हूँ सचमुच ? लेकिन अब तो उसका कण्ठ खुल चुका था—

“आपकी क्या तजबीज है ?”

“तू ? नहीं नहीं, अब तक तुझे लोगों ने हर्गिज पवित्र नहीं रहने दिया होगा ।”—मेरे दिमाग में आँधी उठ रही थी ।

“फिर सब तो समझते ही हैं आप । लेकिन विश्वास कीजिए, मेरा कोई कुसूर नहीं, मैंने हर तरह से मजबूर होकर ही……!”

ऐसे मौके पर क्या किया जा सकता है—मेरी समझ में खाक नहीं आया । घर से गिन २ कर रुपए आते हैं, मुश्किल से महीना पूरा हो पाता है, किसी को एक पैसा भी मदद करूँ, गुंजायश नहीं । फिर यह शहर है, सूखी रोटी खाने पर भी उन्हें हर रोज एक अठन्नी चाहिए । चार २ पेट भूखे हैं । गरीबों को भूख भी जल्द जल्द लगती है । मैं सोच के समुंदर में गिर गया । इसी

समय मेरे साथी आते दीख पड़े। मैंने गंगा को इशारे से हटा दिया। उन्होंने कमरे में पहुँचते ही पूछना शुरू किया—

“सुनते हैं ? आज कल सब ओर प्रेम ही प्रेम की रट क्यों लगी रहती है ? चाहे जिस पत्र-पत्रिका को उठाइए, उसमें प्रेम साहित्य भरा पड़ा है। कविता का विषय—प्रेम, कहानी के साट प्रेम के पचड़ों के, मैंने तो आज रास्ते में कसम खा ली है कि अब उम्र भर पत्र-पत्रिकाएँ नहीं पढ़ूँगा।”

“छिः, आप इतना भी नहीं समझते ? भारत की नाक है—
बंगाल। बंगाल की आँख है—कलकत्ता। कलकत्ते का मुँह है—
न्यू थिएटर्स। और न्यू थिएटर्स की जुबान है—“प्रेम ही धर्म है,
प्रेम ही कम है, प्रेम ही जग का सार !” फिर आप प्रेम के अलावा खोज किसकी करते हैं ? हाँ, कसम खा ली सो अच्छा किया। भूख ज्यादा लगी होगी ? साथ होता तो मैं भी साथ देता। जब २ भूख लगे कस-कस कर कसमें खानी चाहिएँ। दुःख है, गंगा को यह तरकीब मालूम नहीं। फिर तो उसकी सारी फिक्र दूर हो जाती !”

मुमकिन है, उन्हें यह जबाब बेजान जान पड़ा हो। क्योंकि उनकी गम्भीरता ने तुरत करवट बदल ली, छिछली सी ‘छी’ २ कह छींकने लगी।

—“सुनते हैं ?”—

जैसे मेघ-रन्ध्र में रागिनी बजी, “मुझे आपके मुँह से यह

गंगा गंगा सुनना अच्छा नहीं मालूम पड़ता। अभी उसका किस्सा आपको मालूम ही नहीं हुआ। वह नेपालिन है, ग्वालिन। उसका बाप यहाँ चन्द्रपुर दरवार में दरवान था, जब बूढ़ा हो गया, नौकरी छूट गई। अब वह यहीं रहेगी। अच्छा हो, हम लोग यह मकान छोड़ दें।”

जैसा किस्सा उन्होंने मुझे सुनाया, और उस पर जैसा सुन्दर सुझाव पेश किया, मैंने मन ही मन उनका अभिनन्दन किया, फिर हाथ जोड़ कर कहा—

“भाई मेरे ! मैं बड़ा पापी हूँ, इसीलिए आप ही लोगों के शास्त्र के अनुशासन के अनुसार ‘गंगा-गंगा’ कह कर मुक्त होने की आशा करता हूँ ! आपने तो संस्कृत पढ़ी ही है, कहीं मिला नहीं—

“गंगागंगेति यो ब्रूयात् योजनानां शतैरपि
मुच्यते सर्वपापेभ्यो विष्णुलोकं स गच्छति ?

“अब रही बात यह मकान छोड़ने की, सो इसके विषय में मुझे बहुत नहीं कहना। आप आज्ञा दें तो मैं मकान क्या, प्राण भी छोड़ सकता हूँ !”

प्राण को मुँह से निकाल कर भरसक मैंने जबाब की जगह नहीं छोड़ी थी, लेकिन उनकी आज्ञा को तो महत्त्व दे रक्खा था ही, उन्हें मानो मुँहमाँगी मुराद मिली, बढ़ कर बोले—

“तो सुनते हैं ? एक ही हालत में यहाँ रहा जा सकता है,

कानन

और वह यह कि आप गंगा से बोलना-मिलना कतई छोड़ दें। देखते नहीं, वह मुझ पर नज़र पड़ते ही यों दौड़ कर भग जाती है, जैसे ऊँट को देख कर भैंस ? आखिर मैं भी आदमी हूँ, मुझ से यह अपमान हरिज बर्दाश्त नहीं हो सकता।”

अब मैंने समझा—गंगा का संतरे जैसा रंग क्यों उन्हें जामुन जैसा लगता था ! मुझे मित्र के दुःख पर काफ़ी हمدर्दी हुई, आखिर नहीं क्यों होती ? रामायण में पढ़ रक्खा था—

जे न मित्र दुख होहिं दुखारी,
तिनहिं विलोकत पातक भारी !

(४)

टाउनहाल वाले मैदान में सनातनधर्मियों की महासभा थी। पञ्जाब या सिंध से कोई कचालूराम शास्त्री आ पहुँचे थे। एक बार बनारस में गुजरात से आए हुए महामहोपाध्याय हाथीभाई शास्त्री के दर्शन कर चुका था। अब के इस नए नाम में भी काफ़ी आकर्षण मालूम हुआ। मैं गया। उस समय शास्त्री जो प्रसंगवश वर्तमान-शिक्षा-पद्धति की आलोचना कर रहे थे। वह कह रहे थे—

“भाइयों ! आज बच्चों को जैसी तालीम स्कूलों में दी जा रही है, वह सरासर ग़लत है, झूठ है। एक रोज़ हम ने अपने बच्चे के क्लास में गए हुए थे, वहाँ हमने किसी से कुछ बातें

करना नहीं था, सिर्फ पढ़ाई का तौर-तरीका देखना था। मास्टर पूछ रहा था—“बताओ लड़कों ! हिमालय पहाड़ कहाँ है ?”

एक गुस्ताख लड़के ने झटपट बता ही दिया उठ कर—

“यह यहाँ !”

हमने गुस्से से जले जा रहे थे,—भला हिमालय पहाड़ उस छोटे से कमरे में कैसे समा सकता था ! इतने में मास्टर ने दूसरा सवाल किया—

“और गंगा कहाँ पर है ?”

अब के हमारे सपूत ही उठे। उन्होंने बतलाया—

“यहाँ पर मास्टर साहब !”

हमने तो बेताब हो उठे। डाँटा—

“तेरे मास्टर साहब की ऐसी की तैसी ! चल, उठ यहाँ से, हम अपने लड़के को मूर्ख ही रखेंगे, लेकिन ऐसी गलत पढ़ाई हर्गिज नहीं पढ़ा सकते। अगर इस कमरे में गंगा होती, तो नालायक ! अब तक तू, तेरा मास्टर, तेरा स्कूल—सब के सब कभी खत्म हो चुके होते ?”

“प्यारे भाइयों ! अब आप ही बतलावें, क्या ऐसी ही तालीम के लिए हम ने पैसे खर्चते हैं ?”

शास्त्री जी ने उस छोटे से स्कूल में गए हों या न गए हों, लेकिन मैं तो इस महासभा में गया ही था। मेरे माथे पर सच-मुच हिमालय टूट पड़ा, आँखों से गंगा बहने लगी। देखा, मुग्ध

सनातनधर्मी भाई शास्त्री जी का यह ऐसा दुग्धोज्ज्वल भाषण सुन कर अपने मानव-जीवन को धन्य बना रहे थे। अभी मैं भगने को तैयार ही हो रहा था कि बी. वी. कॉलेज के एक चश्माधारी छात्र उठ खड़े हुए। जिन्हें बोलना नहीं आता, अक्सर वे ही बोलने के लिए बेताब हो जाते हैं।

उन्होंने शास्त्री जी को जोरों से ललकारा।—“अगर हमारी जोय्रैफी झूठी है, मैप गलत है—तो आपके कालिदास भी बेवकूफ हैं, जिन्होंने बादल से संदेश भेजवाया है।”

अब वहाँ बैठना टाइम का खून करना था। मैं दुलकी दौड़ता हुआ डेरे पर पहुँच गया। यहाँ गंगा अपनी अंधी और गधी माँ को कुछ दिखा-सिखा रही थी। मुझे देखते ही मेरे पास आ गई। मैंने दिल कड़ा कर कहा—

“गंगा ! मुझे माफ़ कर। अब मैं तुझसे बोल-मिल न सकूँगा। मेरे साथी को यह सब बड़ा बुरा मालूम पड़ता है।”

एकाएक उसके सिर पर गाज गिरा कर मैं खुद खिन्न हो गया। वह कुछ देर तक चुपचाप मेरा मुँह ताकती रही। फिर धीरे-धीरे होंठों में बुदबुदाई—

“ओह ! इसीलिए मुझसे उलझ-उलझ, घुल-घुलकर बातें कर रहे थे आप ? और मैं पगली कैसे-कैसे मंसूबे बाँधने लगी थी ! दिलबहलाव के लिए ज़रा दूसरे के दिल का घाव उकसा दिया। —क्यों ? मज़ा मिला न ? अब अपने दोस्तों से बतलाइएगा—

“मेरे डेरे में एक सुनहली चिड़िया आई है, उसे एक ही बार सीटी बजाकर मैंने फुसला लिया है, चलो, तुम लोग भी देखो उसका फुदकना, उसका चहकना !”

“गंगा...— !” मैंने आर्त्त स्वर से पुकारा—“मेरे सामने बड़ा धर्म-संकट है। मेरे साथी इस डेरे तक को छोड़ने के लिए मुझे जोर दे रहे हैं, अगर मैं तुझसे बोलना-मिलना नहीं छोड़ता।”

“नहीं बाबू ! मैं आपके पाँव पड़ती हूँ, आप यहाँ से हर्गिज कहीं न जाइए। मैं अबसे आपसे कुछ भी नहीं बोलूँगी, कभी न मिलूँगी, आप की तरफ ताकूँगी भी नहीं। इतमीनान रखिए, अपने साथी से भी मेरी यह कसम सुना दीजिये। लेकिन आप यह डेरा कभी मत छोड़िये।” उसकी आँखों की पुतलियाँ बालू पर की मछलियाँ हो रही थीं। छन भर एकदम सन्नाटे का आलम रहा।

“फिर मैं यहाँ रह कर भी क्या करूँगा ?”

अबके मेरे सवाल से वह तिलमिला उठी—तनिक तैश में आ कर बोलने लगी।—“माफ़ कीजिए मुझे। कुछ नहीं तो तमाशे ही देखिएगा। किस तरह लुटती हूँ, सताई जाती हूँ, चीखती हूँ, चिल्लाती हूँ !

“अगर इतने से भी जी न भरे तो देखिएगा—किस तरह यार लोग बाज़ार छोड़ छोड़ कर सस्ती रेट में बढ़िया माल पाने यहाँ आते हैं ! मुझे पान की गिलौरियाँ खिलाते हैं,

नए नए फैशन की साड़ियाँ पहनाते हैं ! किस तरह मैं उन के हाथों को कठपुतली बनकर नाचती हूँ,—क्या यह सब भी आपके साथी साहब के मन के लायक बातें नहीं ? इन सब हरकतों से भी आपकी आँखें नहीं जुड़ा सकतीं ?”

(५)

रात को मैंने अपने साथी से कहा—“अब जितनी भी जल्दी हो सके, यह डेरा छोड़ दिया जाय । मैं गंगा से मिले या यथा-शक्ति उसको सहायता पहुँचाए बिना यहाँ पर टिक नहीं सकता !”

कम बोलनेवाले गम्भीर व्यक्तियों में यह एक दैवी गुण होता है कि जब कुछ बोलते हैं, तो बड़ा चुटीला, यानी वह सुननेवाले के कलेजे पर सीधे चोट पहुँचानेवाला होता है, लौह-हृदय को भी छेद-छेद कर छलनी बना देता है । मेरे साथी हाथी की तरह चिगघाड़ने लगे—

“सुनते हैं ? मैंने इस साल अपनी बेकसूर बीबी तक को छोड़ दिया है । भला इस डेरे के छोड़ने में मुझे क्या कष्ट हो सकता है ? लेकिन एक बात है, आपका दिल बड़ा कमजोर जान पड़ता है, मैं उसे शहजोर यानी मजबूत बनाना अपना फर्ज समझता हूँ । मैं चाहता हूँ कि आप यहीं रहें, लेकिन उससे मिलें नहीं, उसके गाने सुनें, किंतु कुछ बोलें नहीं । बस उसकी सारी शेखियाँ सर से सर से उतर जायँगी ।”

इसी भाँति दो महीने बिता दिए। बाज़ारू लोग तो नहीं, लेकिन मकानमालिक का बेटा अपने दो-एक दोस्तों के साथ बराबर आता-जाता रहा। जहाँ मेरी मुँदी थी, वहाँ मेरे साथी की आँखें खुलनेवाली थीं। मैं मौन हो गया, वह बराबर बड़-बड़ाते गए।

जाड़े की जवानी ढल रही थी। मधु चुक जाने पर भौरों की जगह मच्छड़ों ने ले ली थी।

गंगा के डेरे से शाम ही से बुरी तरह धुआँ आ रहा था। मेरी आँखें सुर्ख हो गई थीं, पर बोलने की कसम थी—क्या करता ?

मेरे साथी अपनी सुसराल की चिट्ठी सुनाने के लिए उत्सुक थे। अभी हो शाम की डाक से आई थी। लेकिन धुआँ जोर मार रहा था, बेचारे लाचारी फील कर रहे थे। आखिर गुस्से से खून उनकी बड़ी-बड़ी आँखें देख मैंने कहा—

“मना क्यों नहीं करते उनलोगों को ? यह डेरा छोड़िएगा ही नहीं, फिर घुलिए इसी तरह !”

उन्होंने कहा—“सुनते हैं ? मैं उन लोगों से बोलना अपना तौहीनी समझता हूँ, आप ही डाँटिए।”

“मैं कैसे डाँटूँ ? आपने तो मना कर दिया है मुझे गंगा से बोलने को ?”

“सुनते हैं ? आप भी खूब समझते हैं कभी-कभी ! मैंने गंगा

से प्यार की बातें बोलने के लिए मना किया था या गालियाँ देने, डाँटने-फटकारने के लिए भी रोक दिया था ?”

“ओह हो ! तो यह बात है ? लेकिन मैं तो उससे कुछ भी नहीं बोल सकता । उस रोज़ जब आप सेकेंडशो देखने गए थे, इससे भी ज्यादा धुआँ हो रहा था । मैंने ऊबकर ऊपर से ही पुकारा—उसका बाप खाँसने लगा, माँ हँसने लगी और उसने चिल्लाकर जवाब दिया,—हमारे पास आप लोगों की तरह गढ़े और रजाइयाँ नहीं हैं, जाड़ा लग रहा है, फिर हम क्या करें ?”

सुनकर मेरे साथी ठंडे पड़े । मैं उनकी अधीरता देख चुका था, मुसकिला कर बोला—दीजिए न, मैं खुद चिट्ठी पढ़ लेता हूँ, आप भी सुनिए ।

“मेरे प्रियतम !

आप जब से गए हैं, मैं कलेजे के दर्द से बेचैन हूँ । नहीं जानती, आप किसलिए मेडिकल कॉलेज में पढ़ रहे हैं ? होली की छुट्टी में कोई न कोई अच्छी सी दवा लेकर ज़रूर आने की कृपा करेंगे ।

और हाँ, आपकी सलाह के मुताबिक मैं भी “संत तुलसी दास” देख आई हूँ । लेकिन आप मुझे रत्ना की तरह बेवकूफ मत समझिएगा । मैं आपको शान्ति का संदेश सुनाने के लिए नहीं छोड़ सकती । उसके लिए गाँधी बाबा ही काफी हैं । आप जानते हैं, यह युग शान्ति का नहीं, क्रान्ति का है । आपको इस

बार आदिशक्ति बनकर मैं क्रान्ति के कुछ नए नुसखे सिख-
लाऊँगी ।

आपके

चार चरणों की चेरी
काबेरी”

मुझे पहली बार अपनी गहराई का अंदाज़ा मिला । मैं हँस
न सका । उन्होंने प्रसन्न होकर पूछा—“सुनते हैं ?”

हालाँ कि मैं बहरा नहीं, लेकिन मेरे साथी इसी वाक्य से
हमेशा शुरू करते हैं, मैं सावधान हो गया—“कहिए ।”
वह बड़े—

“काबेरी को कलेजे में दर्द की बुरी बीमारी है, देख ही रहे
हैं, कितना दर्दनाक खत लिखा है ! क्या करूँ,—मिल आऊँ फिर
एक बार ? इस दफ़ा कोई अंग्रेज़ी दवा ले जाना चाहता हूँ,
आयुर्वेद की औषधियाँ खिलाते-खिलाते तो मैं हार गया, लेकिन
कुछ भी फ़ायदा नहीं हुआ ।”

धुआँ तूफ़ानी बेग से बढ़ रहा था । मेरी जान जा रही थी ।
मैंने कहा—

“एक बार मिल लेने से आपको नाराज़ी को नाराज़ होने
का डर नहीं ? फिर मिल आइए । ज़रा एक बार मैं भी
गंगा से मिल आता हूँ, अब तबियत मानती नहीं, बाप रे बाप !
इतना धुआँ.....!”

मैं धड़ाधड़ सीढ़ियाँ उतर कर उसके सामने खड़ा हो गया।

हाय रे वज्र से भी बढ़ कर कठोर नारी का कुसुम से भी अधिक सुकुमार हृदय !—वह आग के पास से उठ कर मुझ बे-पानी के पास पहुँच गई। उसके चेहरे पर चिन्ता की रेखाएँ स्पष्ट थीं, आँखें जैसे आँधी में उड़ी जाती हों ! बोली—

“सचमुच ईश्वर अन्तर्यामी है। वह सबके दिल की बात जानता है। मैं अभी बैठी-बैठी यही सोच रही थी कि किसी प्रकार एक बार भी और आपसे मिल पाती !”

मैंने हँस कर कहा—“तो ईश्वर को क्यों कहती है ? साफ़-साफ़ मुझे अन्तर्यामी कहना चाहिए ! लेकिन मैं तो अपने दोस्त का शान्ति-सन्देश सुनाने यहाँ आया हूँ। उनका कहना है कि अब यह धुआँ बर्दाश्त से बाहर हो रहा है ! वह डेरा छोड़ कर भगे जाते हैं !”

गंगा भी हँसने लगी—“तो क्या आपके साथी मच्छड़ हैं, जो महज धुएँ से भगे जा रहे हैं ?”

मैंने कहा—“अभी जाकर पूछता हूँ !” पर उसने झटपट मेरा हाथ पकड़ लिया।

“अरे-अरे ! कहीं सचमुच ही ऐसा गजब न कर बैठिएगा। उनसे सिर्फ़ इतना ही कह दीजिए कि अब कल से धुआँ नहीं होगा। और सुनिश्चित, एक मजेदार बात बताऊँ !—

इधर हप्ते भर से, समझ रहे हैं न ? उनके साथ एक और शहर के रईस आते-जाते थे । उम्र यही पैंतीस-चालीस । शराब पीकर नशे से टर्र होने पर मेरे पास पहुँचते थे । मैंने परसों रोज उन्हें बुरी तरह बना दिया । इसका फल यह हुआ कि वह सीधे मकान-मालिक के पास पहुँच कर सारा कच्चा चिट्ठा खोल बैठे । मकान-मालिक ने अपने बेटे को ज़रूरत से ज्यादा डाँट फटकार कर मुझे इस डेरे से निकाल देने का हुक्म दिया । वह आज सबेरे कमरा खाली करने को कह गए हैं । मेरी इज्जत की बिदाई की खातिर ५) रु० भी आखिरी दफ़ा देते गए हैं ।”

सुन कर मैं मर्माहत हो गया । बेवकूफ की तरह बोला—

“फिर क्या होगा गंगा ? अब तू कहाँ जायगी ?”

“कहाँ बताऊँ ? जहाँ ईश्वर ले जायगा ! अब आप ऊपर जाइए, आपके साथी चिल्ला रहे हैं ।” मैं ऊँचे उठने की कोशिश करने लगा ।

“क्यों, क्या हुआ ? क्या कहा उसने ?” साथी ने आँखें पोंछते हुए पूछा ।

“कहा है कि अब कल से धुआँ नहीं होगा ।”

(६)

दूसरे रोज़ सबेरे-सबेरे ही गंगा सामने के कुएँ पर नहा रही थी। मैं खिड़कियों से उसे देख-देख कर तेल लगा रहा था। मेरे साथी ने एकाएक ऊपर आकर कहा—

“सुनते हैं ? आज पहली बार मुझे गंगा भली लगी, निहायत नायाब चीज़ है !”

मैं व्यंग की हँसी हँस कर नहाने चला गया। तबतक गंगा—उधर लीचियों के बागान में बाल सुखा रही थी। मुझे कुएँ पर देख कर हँस पड़ी और मैं रो पड़ा।

जल्दी-जल्दी नहाकर जब धोती पहनने लगा, उसके माथे के क्लिप और काँटों पर नज़र पड़ी। उन्हें उठा कर मैं उसी की तरफ़ चला गया। आखिरी बार फिर मजाक की सूझी। मैंने पूछा—

“बता तो गंगा, मेरी मुट्ठी में क्या है ?”

उसने मेरी ढीली मुट्ठी खोलते हुए कहा—“ये मेरे माथे के क्लिप हैं, और ये कलेजे के काँटे !”

क्या जबाब देता ? शायद इसीलिए गद्गद-स्वर से एक सवाल ही कर डाला—“सच बता, कभी-कभी याद करेगी ना ?”

“क्यों नहीं बाबू ?”—उसने बड़ी ही मार्मिक हँसी हँस कर कहा,—“आपको भूलूँगी भी कैसे ? सच कहती हूँ, ज़िन्दगी में

पहिली बार आप ही के सामने मैंने कलेजा काट कर रक्खा था, जिसे आप जूते की नोक से ठुकरा कर, रौंद कर चलते बने !”

अब तक साथी भी कुँएँ पर पहुँच चुके थे,—मुझे पुकारा,—“सुनते हैं ? देर हो रही है, जल्द कॉलेज चलना है।”

“आया” कहने से पहले मैं कुँएँ पर आ गया। फिर खापीकर दस बजते-बजते कॉलेज चलने को भी तैयार हो गया। मेरे साथी ने बड़े अचरज से मुझे दिखलाया—

गंगा का बाप माथे पर गट्टर रख कर आगे-आगे चल रहा था। माँ एक लड़के का हाथ पकड़े और दूसरे लड़के को हाथ से पकड़े पीछे-पीछे जा रही थी।

गंगा कुँएँ के पास छन भर रुकी। बैठ कर बड़ी लंबी साँस खींची। जब मेरी तरफ़ निगाह फिराई—तब आह ! मैं अपने साथी की मुख-मुद्राएँ देख-देख कर हँस रहा था। फिर वह भी धीरे-धीरे चली गई। वातावरण में एकाएक इतना जबर्दस्त परिवर्तन देख कर मेरे साथी ने पहले ही की तरह पूछना शुरू किया—

“सुनते हैं.....?”

“नहीं।” मैंने बीच ही में बात काट दी। “अब तो सब कुछ रू-ब-रू देख रहा हूँ। आप भी देखिए।”

कानन

उन्होंने घबरा कर एक साथ ही कई सवाल किए, पर मैं जैसा जला-कटा था, मुँह ही में भुनभुना कर रह गया—

—“जो उसका धुआँ नहीं बर्दाश्त कर सकता था, वह मेरी आग क्या खाक बर्दाश्त करता ?”

विनाश के पथ पर

‘अपने’ कहेजानेवाले लोग सबसे पहले अलग हो गए थे ।
एक जटेश्वर विभीषण बना था, पर मुझ जैसे नाममात्र के
राम से राज पाने की कुछ भी उम्मीद न देख पीछे वह भी
अपने कुलवाले कुलीनों में जा मिला । वही एक मेरा भतीजा
बचा था । और सारा गाँव तो चाचा बन चुका था ही ।

मैं घर छोड़ कर भाग चला । पर दो कोस चलने पर मालूम
पड़ा कि अभी ही और दो कोस चल लेना चाहिए, अगर कोसों
चलने की मुसीबत से बचना हो । यानी घर लौट जाने से अच्छा
और कुछ नहीं । वैसा ही किया ।

कानन

सुबह सारी बस्ती में यह खबर फैल गई कि मैं मारे डर के भगा जा रहा था। मेरा दम घुटने लगा। कुछ कहने के लिए मैं परेशान हो उठा पर वहाँ सुननेवाला था कौन ? सुना था, दुनिया के कान होते हैं, आँखें नहीं,—पहली बार दोनों आँखें फाड़ कर देखा मैंने उस कानवाली कानी को।

बादलों में सूरज को छुपते देख चुका था, इस बार भुठाई की बलिवेदी पर सचाई की खुली कुर्बानी भी देख ली। मुझे चाहिए था उस नर्मदिल भतीजे से उसी वक्त अपनी आँखें फोड़वा लेना,—पर कौन कहे अभी और क्या-क्या देखना बाक़ी रह गया था,—मैं फूटी आँखों भी जिन्हें देखना नहीं पसंद करता, उन्हीं की आँखों में आँखें गड़ाए रह गया।

हालाँकि मुझे एक रोज़ मौक़ा मिला—मैंने डाक्टर अविनाश के सारे काले कारनामे सब को सुना दिए। किस प्रकार उन्होंने सुवासिनी को बहकाया, उसका धर्म नष्ट किया, और उसे कहीं का नहीं रहने दिया। मेरे मुँह से सच्ची कहानी सुन कर पास बैठे दो-चार भावुक लड़के मुझे बेदाग, बेक़सूर बताने भी लगे,—पर मक्कारखाने में तूती की आवाज़ की कितनी क्रूर होती ?

(२)

“सुवासिनी वंग-बालिका है, बड़ी-बड़ी आँखोंवाली पच्चीस साल की युवती। जवानी की पहली ही बाढ़ में पति से

परित्यक्त होकर विधवाओं जैसी जिन्दगी बिताने को मजबूर हो गई है। पाँच-सात वर्षों से बाप और विमाता के साथ रहती है।

“उसका आवारागर्द भाई रणदाचरण उसके दुःख को न समझ कर जब राग-रंग में मस्त हो चला, उसको विमाता के जब प्रतिवर्ष संतान होती रही, उसके आसपास के वातावरण में जब वासना और विलासिता के कण शवनम की भाँति चमकते नज़र आने लगे, उसकी जवानी आँचल का पर्दा चीर कर बाहर की बहार देखने को व्याकुल हो गई। अपने ही होठों की शराब से उसकी आँखों में नशा छा गया, जिसमें जलन मालूम होने लगी !

“हिन्दू लोग बात-बात में शेखियाँ बघारने के आदी हैं। धर्म और ईश्वर के बिना तो वह एक कदम भी आगे नहीं रखना चाहते। इसीलिए घर में जवान बेटी या पतोहू के विधवा होने पर, उसके काँपते हाथों में गीता और रामायण, चंदन और तुलसी की माला सौंप कर कहते हैं—बस इन्हीं में अपने मरे हुए पति को ढूँढ़ो !

“जाड़े की आधी रात में वह बेचारी विधवा लड़की या पतोहू रामायण बाँचने बैठती है और उसका खूसट बाप या ससुर नई ब्याही हुई जोरू की जवानी पर छापा मारता है ! तिसपर उसकी कमसीन, हसीन लड़की या पतोहू के रंगों में

भी अगर गर्म लहू की दौड़ मालूम पड़ती है, तो वह बाप-बाप के बदले पाप-पाप चिल्लाता है !

“सुवासिनी के मकान के सामने ही डॉक्टर अविनाशचन्द्र रहते हैं। कहने को ब्राह्मण हैं, पर आज के ब्राह्मण कल के चमार से ज्यादा पवित्र या सचरित्र होने के दावेदार नहीं, सभी जानते हैं ! सौ चूहे खाकर हज करनेवाली बिल्ली पाक हो सकती है, पर दिन-रात माथे पर गंदगी उठानेवाले को नापाक भर कहने से कैसे काम चल सकता है ? खैर।

“दाँतों से पैसे पकड़-पकड़ कर उन्होंने जायदाद खरीदी है, अच्छा खासा मकान बनवाया है, बैंक में रुपए जमा किए हैं, गाँव के रईसों में उनकी भी गिनती है। उनकी औरत मरते-मरते मर गई,—उस वक्त उनकी तबियत किसी दूसरी सुहागिन पर आई हुई थी, उन्हें अफसोस तक करने की फुर्सत न मिली। अब तक कितने ही उजड़े घरों को बसाकर वह अपनी अक्सीर दवाओं की करामात दिखा चुके हैं। बड़े-बड़े लोगों के घर जो छोटी-छोटी बातें हुआ करती हैं—बड़े-छोटे सभी जानते हैं। यों औरों ही की तरह मैं भी उन्हें अच्छा डॉक्टर मानता हूँ !

“इस बार सुवासिनी की बारी आई। उसे इतने जोरों से प्यास लगी थी कि पनाले में मुँह लगा दिया। वह डॉक्टर साहब की हर हरकतों से वाकिफ थी। पेट न रहने की अच्छी से अच्छी दवा उनसे मुफ्त मिल सकती थी। वह वैतरणी ही का

पानी पीते आए थे—नरक का खौफ उनके रास्ते का रोड़ा नहीं बन सकता था—सुवासिनी को आँखों पर पर्दा पड़ गया। बहुत दिनों बाद बाँध तोड़ कर बहनेवाला पानी एकाएक किसी भी तरह नहीं रोका जा सका।

“सुवासिनी को अच्छी से अच्छी साड़ियाँ भेंट की जाने लगीं। मिठाइयों के दोने पर दोने मिलने लगे। उसके बाप और विमाता का मुँह रुपयों से सी दिया गया। भाई की देह की डाल पर रेशमी फूल खिलते दिखे, नया कोट, नई शर्ट के रूप-रंग में। कुछ दिनों बाद जब धीरे-धीरे चूना धुलने लगा, चेहरे पर की कालिख आईने में चमक उठी।

“एक रोज़ नामर्द भाई ने अपनी आँखों डाक्टर साहब की मर्दानगी देखी। उसकी बहन कसाई के हाथों पड़ी गाय की तरह थर-थर काँपने लगी। डाक्टर साहब का कलेजा ‘छप्पन-छुरी’ हो गया।—फिर भी उस वक्त दवाओं के जोर से दूने ताक़्तवर हो रहे थे, भाई को भौजाई की भाँति धकेल कर भग गए। वह पुरुष सिंह थे।

लेकिन जिसे औरत की जात में जनम पाने का अभिशाप था, जिसने भावुकता की तीखी धार में अपनी जीवन नैया छोड़ दी थी—वह कैसे किनारा पाती? अब उसके लिए कहाँ ठौर था?

“भाई ने मारते-मारते उसकी पीठ फाड़ दी, पर अपने

वेमोल मिले सुनहले कपड़े नहीं फाड़े। माता ने उसकी शिका-यतों से सब की नाकों में रुमाल लगवा दिए, पर अपना मुँह बराबर खोले रही। बाप ने उसे मार डालने को, अँगूठे में जनेऊ डाल कर ऊँचे स्वर से प्रतिज्ञा की, पर डाक्टर साहब के उस अकारण दान का हलाहल पान कर खुद नहीं मरे।”

सुनते-सुनते मेरा सर घूमने लगा। मैंने श्यामा के मुँह पर हाथ रख दिया—“अब छोड़ो भी इस नानी की कहानी को।”

“ओह ! नानी की कहानी ? यह क्या कह रहे हैं आप ?”
—श्यामा की भवें कमान की तरह तन गईं।

“तो क्या करने कहते हो मुझे ? दुनिया में सब ओर तो ऐसा ही हो रहा है ?—मेरे लिए यह कोई नई बात नहीं !”

“मैं इस पाप का प्रायश्चित्त पूछने के लिए नहीं आया पण्डित जी ! मुझे सिर्फ यह मालूम करना है कि अब सुवासिनी की रक्षा कैसे होगी ?”

“फिर सोचूँगा इसे। अभी तो यूनिवर्सिटी से आए एक सप्ताह भी नहीं हुआ। ज़रा आराम कर लेने दो मुझे, बड़ी गर्मी पड़ रही है इस वक्त !”

“तब हो चुका सब कुछ। अरे ! उसे तो दो ही तीन रोज़ बाद यहाँ से बंगाल ले जाकर मारना चाह रहे हैं वे लोग ? वहाँ उसकी जान पर आई हुई है, और यहाँ आप अभी आराम करने के लिए पलंग बिछवाने जा रहे हैं !”

“तो फिर क्या करूँ मैं ? उसी से पूछ देखो न, क्या चाहती है ? मैं ज्यादा से ज्यादा उसे मदद पहुँचाने की कोशिश करूँगा । यों घबराने से क्या होगा ? आज और और साथियों से भी राय ले लेता हूँ, ऐसे-ऐसे मामलों में अकेले हाथ लगाते डर लगता है भाई !”

“हाँ राय ले लीजिये, पर यह जाने रहिए कि काम सिर्फ हमीं दोनों को करना होगा, वक्त पर कोई नहीं काम आएगा !”

(३)

श्यामाकान्त अपने को मेरा सबसे बड़ा साथी समझता था, ताल ठोक कर तैयार हो गया—अकेले ही समाज से एक हाथ आजमाने को । हालाँकि मैं जानता था—यह साथी ही है सिर्फ, हाथी हर्गिज नहीं, एक ही धौल में फिस्स पड़ जायगा । पर तो भी मैंने उसके उभरे हुए मंसूबों पर चट्टान रख देना अच्छा नहीं समझा । कुछ और और दोस्त भी इस ‘मजेदार’ मामले में दिलचस्पी लेने को तैयार होगए । बस एक विश्ववन्धु ही बड़े अन्यमनस्क भाव से इस ओर बढ़े, पर इसके मानी यह नहीं कि उनके दिल में किसी से कम आग थी ।

आखिर श्यामा की ज़िद को मैंने अपना कर्त्तव्य मान लिया । सुवासिनी के प्राणों की रक्षा के लिये अपने को मिटा देने तक को तैयार हो गया । पर बार-बार मेरे मन में एक बात आने लगी कि ज़रा सुवासिनी से भी उसके दिल की मालूम कर लूँ ।

अगर वह मरने को उतारू हो चुकी हो तो बेहतर है,—मैं उससे छेड़-छाड़ न करूँगा। पर अगर उसकी हत्या होनेवाली हो, और वह प्राणों के भीतर से कातर-स्वर से पुकार रही हो—“कोई बचाओ, मदद करो,” तो मैं बसौर दाँ-बाँ देखे अग्नि-कुण्ड में कूद पड़ूँगा, फिर चाहे मुझे खाक ही में क्यों न मिल जाना पड़े !

सुवासिनी घरवालों से छुप कर छन भर के लिए मेरे पास आई। उसकी गोद में उसका सबसे छोटा भाई रो रहा था, मेरे कई बार कहने पर भी उसने बैठने में लाचारी दिखलाई। उसका पहला वाक्य था—“मैं तो अब कुँ में गिर चुकी हूँ, मुझे किसी भाँति उबारो भाई।”

“तुम्हें नहीं, बहन ! हमारा सारा का सारा समाज कुँ में गिर चुका है, और उसे निकालने के लिए मेरे बाजुओं में काफ़ी ताक़त नहीं। हाँ इतना ही है कि मैं अकेला नहीं हूँ, और जो मेरे साथ हैं, वे तुम्हारे भी सच्चे साथी हैं। मैं जानना चाहता हूँ—तुम्हें मेरी तरफ़ से किस तरह की मदद चाहिए !

“मेरा ख़याल है कि जो तुम बहू-बेटियों से पवित्रता या सच्चरित्रता की आशा रखते हैं उन्हें खुद पहले इस दिशा में अपना क़दम बढ़ाना होगा। तुम्हारे वहाँ के विद्या-सागर ने जब विधवा विवाह की हिमायत की थी तो अपनी ही बेटी को व्याह भी था पहले उस उच्छृङ्खल आदर्श के साथ।

जिस गाँव के ज़र्रे-ज़र्रे में पाप के कीटाणु प्रवेश पा चुके हों, जिसके आसपास व्यभिचार की कर्मनाशा बह रही हो, जिसका घर विलास और वासना की दलदल में फँसा हुआ हो, उसे या तो—सुवासिनी की जैसी दुर्दशा का खुले-दिल से स्वागत करना चाहिए, या फिर अपने को मिटा देना चाहिये—वैसे वातावरण की एक बारगी काया पलट देने के लिये, अपनी संस्कृति, अपने धर्म की रक्षा में ! तीसरा कोई रास्ता नहीं । जब तक समाज में ऐसा अँधेरा रहेगा और वह अँधियाली में ही खराटे लेने में मस्त रहेगा, तबतक एक नहीं, हज़ार-हज़ार सुवासिनियाँ, उसे सचेत करने के लिये, उसके माथे में ठोकरें मारती रहेंगी ।”

“भाई ! मैं तो चाहती हूँ कि जिसने मुझे बिगाड़ा, मेरा सर्व-नाश कर दिया मैं भी उसे कहीं का नहीं रहने दूँ, मैं खुद सबों के सामने सब कुछ कहने को तैयार हूँ, सिर्फ़ दो रोज़ के लिये मुझे मेरे माँ-बाप की आँखों से ओझल कर दो, नहीं तो वे मुझे किसी भी तरह ज़िन्दा नहीं रहने दे सकते ।”

मैं सोच में पड़ गया—क्या करूँ ? कहाँ छिपा कर रखूँ इस दुखियारी को ? जैसी खूबसूरत और जवान है, इसे अपने घर में रखने पर तो मैं मर-कर भी किसी को, अपनी सद्भावना पर विश्वास नहीं दिला सकूँगा ! हमारा देश, हमारा समाज आज इतना पतित हो चुका है कि वह महात्मा गाँधी तक से कैफ़ि-

यत तलब करते नहीं चूकता—उन्हें भी स्त्रियों के साथ खुलेआम रहने के कारण सौंदर्योपासक, कामुक और दुश्चरित्र कहते उसे शर्म नहीं मालूम पड़ती। फिर मेरी क्या हस्ती जो दो दिनों तक अपने घर में एक पराई लुगाई को छिपाये रख कर अपने को पाक़दिल या बेदाग़ साबित कर सकूँगा।

पर इसी समय एकाएक मेरी चिंता सहस्रधारा बन कर बह गई, दरवाजे पर गरज गरज कर उसके बाप उसे पुकार रहे थे, मुझे क्या गरज कि मैं उस गरज का मतलब मालूम करने बाहर निकलता !

सुवासिनी का अन्तिम वाक्य था—“बस भव आज मेरी जान नहीं बच सकती, लेकिन मेरा दुःख अपने संगी-साथियों से ज़रूर सुना देना भैया !”

तबियत होती थी—एक बार ही उसकी ज्वालाओं में जल जाऊँ ! उसे अपने ही घर रोक रखूँ। उसके बाप को कस कर धता बता दूँ ! पर अबतक तो सुवासिनी कसाई भाई की बेशुमार मार खाती-खाती बेहोश हो चुकी थी !

उसकी मर्मभेदी करुण-पुकार विश्वबन्धु के कानों में भी पड़ी थी, पर वह तो उस समय सम्पूर्ण विश्व के ज्योतिरुज्ज्वल मुख-कमल का अन्तर्दृष्टि से अवलोकन कर सर्वशक्ति जगन्नियन्ता की आनन्दमयी अर्चना में निमग्न थे, महज एक अवला की आह-कराह उनकी शिव-समाधि की विघ्न-व्याधि बनने से रही !

(४)

“तो इतने नीच हैं आप ?”—मेरी पतिव्रता पत्नी ने प्यार से पूछा—“मैं समझती थी, सिर्फ शहरों ही में रंड़ियों के दरवाजे खटखटाते फिरते होंगे ! पर बाप रे बाप ! आप तो मेरे सामने भी बाज़ नहीं आ सके, लोक-लाज को तो घोल-घाल कर पी गए एकदम !”

“हाँ, ज़रा पतला पड़ता हूँ, नहीं तो तुझे भी पी जाता,—ऐसी नसीहत की बातें सुनने को तो फिर नहीं मिलतीं ।”

“ओह-ओह ! अभी कहाँ मिली हैं भर-पेट, ज़रा कल से सुनिएगा ! आप-जैसों को तो गालियाँ सुनते सुनते सारी उम्रही कटेगी ! कहे देती हूँ, अगर मैं भी सच्चे पण्डित की नस्ल की हूँगी—तो आपको इस दुनिया में कहीं मुँह दिखलाने लायक नहीं छोड़ूँगी, ! छिः छिः उस रंड़ी के साथ…… !

“अरे भई ! मैं कब कहता हूँ कि छोड़ना ! तुझ जैसी आदर्श पत्नी पाकर फिर किसी को मुँह दिखलाने लायक रह ही कहाँ गया हूँ ! पर एक बात कहे देता हूँ शशिकला !—मुझे चाहे हजार-हजार गालियाँ दे, पर उसके लिए अगर एक भी बेहूदी ज़बान बाहर निकाली तो ठीक न होगा ।”

“ऐसा जादू कर गई वह छन ही भर में ! और मेरी सारी जिन्दगी बीत गई देवी-देवताओं की मनौतियाँ करते-करते—पर ज़रा जूँ भी न रेंगी आपकी देहपर ! खैर ।”

कानन

“कह चुका—उसकी बात न चला। तुझमें और उसमें आसमान-जमीन का फर्क है। उसे मैं तुझसे ज्यादा इज्जत के लायक समझता हूँ !”

“तो फिर मेरा मुँह न खोलवाइए। कितने-कितनों से चोली ढीली करानेवाली पतुरिया मुझसे ज्यादा इज्जतदार बनने चली है !”

“अब चुप भी रह, क्यों नाहक बक-बक कर रही है ? वह मेरी बहन जैसी है !”

“मैं बक-बक कर रही हूँ ?—तो फिर ठहरिए, मैं उसकी अम्मा को बुलाकर अभी-अभी आपकी क्या हालत कराती हूँ !”

“आखिर क्या कहेगी उनसे ?”

“कहूँगी कि आपकी बेटी रंडी है, वह घर-घर लोगों को फँसाती फिरती है, आज मेरे घर में भी घुस आई थी—और उस गुंडे के साथ..... !

“लेकिन एक बात कहे देती हूँ ? आप लाख उसकी तारीफें करिए, उसके तलवे चाटिए, पर वह अविनाश को छोड़ कर आपकी हर्गिज न होगी ! वक्त पड़ने पर मैं ही आपके काम आऊँगी—यह याद रखिएगा !”

“तो तू भी इतना याद रखना कि अभी चाहे जिस-जिस के पास मेरे खिलाफ बकझक करले, पर वक्त पड़ने पर मैं ही तेरे काम आऊँगा !”

मुझे स्वप्न में भी ऐसी उम्मीद न थी कि मेरी श्रीमतीजी इतना गलत रास्ता अख्तियार करेंगी। नहीं तो, जब उनसे बातचीत हो रही थी, मैं मज़ाक करने के बजाय साफ़-साफ़ सारा हाल बतला देता। फिर तो शायद वह बेचारी सुवासिनी की हमदर्द हो उठतीं, उसे उबारने के लिए जी जान से कोशिशें करतीं, मुझसे आरजू करतीं !

पर अब तो दूसरा ही गुल खिल चुका था, सुवासिनी की अम्मा बागी ही नहीं, भूखी बाधिन बन रही थीं। मुझे देख पातीं तो कच्चा ही चबा जातीं। उन्होंने ढोल बजा-बजा कर गाँव भर को सुना दिया कि—

“मैं महा पापी हूँ, मैंने उनकी सुवासिनी की इज्जत लूटी है, मेरी स्त्री ही गवाह है।”

अविनाश और उसके संगी-साथियों ने इस काम में जी जान से उनका हाथ बटाया। मेरे पूज्य पिताजी पागल हो गए। दुख से चीख उठे। चूँकि मैं गाँववालों की निगाह में गड़ा था,—यह ख़बर बड़ी ही सावधानी से सुनी गई। सचमुच ही मैं मुँह दिखलाने लायक नहीं रह गया।

(५)

सुवासिनी के प्राण-पखेरू पिंजड़े के सोंखचों को तोड़ कर उन्मुक्त आकाश का मुँह चूमना चाह रहे थे, पर पहले ही उनके

पर कतर दिए गए थे, उन्हें तड़फड़ा कर, हिल-डोल कर भीतर ही रह जाना पड़ा।

सुवासिनी जैसे चिल्ला-चिल्ला कर कह रही थी,—हाय ! तुम सब ऊँचे दर्जे के हिन्दू होकर भी यह गर्म-गर्म गोमांस कैसे निगल रहे हो ? कैसे तुम से ऐसा सुफेद झूठ बोला जा रहा है ?

मगर कसक सुनने वाले दिल पर सिल रखे बैठे थे ! उन्होंने आपस में तय कर लिया था,—यह महज “भेड़िया आया-भेड़िया-आया” की चिल्लाहट है।

सोचा, “आत्म-हत्या कर लूँ; ‘हैमलेट’ पढ़ना चरितार्थ हो जाय !

“एक दुखी अबला को सङ्कटों से उबारने की क्षमता मुझ में नहीं; समाज के अन्ध हृदय में ज्योति जगाने का चरित्र मुझ में नहीं, कूचे के ठिकरों को ठुकरा कर अकेला ही कर्त्तव्य के कठोर पथ पर बढ़ चलने का साहस मुझ में नहीं; झूठी शिकायतें, मिथ्या लोकापवाद को विहँस कर बर्दाश्त कर सकने का धैर्य मुझ में नहीं; आम गलियों में भूँकते हुए दो-दो पैर के कुत्तों को फुसलाने-बहलाने के लिए चाँदी के चंद टुकड़े चमकाने की चौकसी मुझ में नहीं; गधों के पाँव पकड़ कर रेंक बंद कराने की, अविनाश-जैसी कम्बख्त अक्लमंदी मुझ में नहीं और युग-युग की मेरी साधना और आराधना के मुँह पर थूकनेवाली, मेरी जिन्दगी भर की सँजोई हुई साधों का श्राद्ध कर गर्दन

ताने फिरनेवाली; मंथरा की मौसी, सूर्पणखा की सगी बहन, अपनी प्राणप्यारी पतिव्रता पत्नी को, अब फिर से इन नापाक हाथों से छूने की कुत्सित कामना मुझ में नहीं,—तो फिर इस बेकार, सस्ती भावुकताओं से भरी जिदगी का क्या मोल है ?

नहीं-नहीं अब आत्म-हत्या कर लेना ही दूरदर्शिता का परिणाम होगा !”

ठीक इसी समय विश्वबन्धु ने मेरे कमरे में पदार्पण किया । समझाया, जो कुछ भगवान् श्रीकृष्ण ने गीता में अर्जुन को समझाया है !—

“यह आत्मा अमर है, इसकी हत्या हो नहीं सकती । बाकी बचा शरीर, सो इसकी हिंसा करने से महात्मा गाँधी के आदर्श को गहरा धक्का पहुँचता है !”

मैंने कहा—

“जब अपनी ही हत्या करने पर तुला हूँ, तो चूल्हे में जाय तुम्हारे गाँधी का आदर्श ! आखिर आदर्श भी तो जीते ही जी का है ।”

“नहीं-नहीं, महात्मा जी का आदर्श जीते से ज्यादा मरे का, बल्कि शाश्वत, चिरन्तन, Perpetual, everlasting है । उसकी हत्या कोई नहीं कर सकता । और इसीलिए तुम्हें भी जीना ही पड़ेगा भाई !”

कानन

“सो तो ठीक है विश्वबन्धु ! मगर मैं तो गाँधी नहीं । हो भी नहीं सकता । और सच पूछो तो होना चाहता भी नहीं ।”

“मुझ से तो अब सुवासिनी की दिल हिला देने वाली पुकार कान बंद कर सुनी नहीं जाती; अविनाश की नज़ाकत, उसके खूँखार, हरामी साथियों की उछल कूद आँखें मूँद कर देखी नहीं जाती, और सब से बढ़ कर तो विश्वबन्धु ! तुम्हारी कभी इस डाल और कभी उस डाल पर बैठ-बैठ कर खीसें निपोरना; दुम हिला-हिला कर मुँहदेखी, चिकनी-चुपड़ी बातें बनाना बर्दाश्त नहीं होता,—मैं क्या करूँ ? बताओ न तुम्हीं ?”

“रोज़ व्यायाम करो भाई ! सुबह-शाम गीता पाठ करो, कुछ देर चर्खा कातो, फिर कुछ मत पूछो, अपने आप सब ठीक हो जायगा !”

“हाँ”—मेरी आँखों में हँसी के आँसू भर आए; छिले दिल का दुख-दर्द शीतल जल बन कर हलक तक छलक उठा, मेरी ज़बान जैसे फिसलने लगी ।

“अब सो सब तो करना ही होगा विश्वबन्धु ! जब सारा गाँव बाग़ो हो गया, तो कमज़ोर रहने से कैसे काम चलेगा ?—व्यायाम करूँगा ।

जब दिन में सौ-सौ दफ़ा अपनी जान कुर्बान करने वाली बीबी तक ने कलेजे में तिरछी छुरी भोंक दी, तो फिर गीता पाठ करना ज़रूरी हो ही गया ।

और जब इतने पर भी तुम मुझे जीने की सलाह देते हो तो अपनी प्रातः स्मरणीया उन 'पटनदेवी' जी की, नाक से जूड़े तक फैली सिन्दूर की सड़क पर अकड़ कर चलते हुए सुहाग को अचल रखने के लिए मुझे विधवा बनना ही पड़ेगा,—मैं खुशी से चर्खा काटूँगा !”

(६)

हम दोनों अपने-अपने उसूलों को लेकर जाने कब तक उलझते रहते, लेकिन अभी अचानक कई छोकरी के साथ हाँफता हुआ श्यामाकान्त पहुँच गया। मैंने उससे हाँफ का सबब पूछा,—क्यों उसकी आँखें बाहर निकली जा रही हैं, मुँह लाल हो रहा है, होठों में थूक सट रही है !

उसने बड़ी बेताबी से बतलाया कि सुवासिनी घर से गायब हो गई !

“ऐं ? सुवासिनी गायब हो गई ? और तुम लोग मुझे यह खुश-खबरी सुनाने आए हो ?—जाओ, जल्दी जाओ—उसे बगैर ढूँढ़े मुझे अपनी-अपनी सूरत दिखाने यहाँ न आना।”—मैं पागल की भाँति और न जाने क्या २ बक गया।

“लेकिन पंडित जी !”—श्यामाकान्त ने आँखें नीची कर कहा—“मुझे बुआ मना कर रही है, चाचा जी गुस्से से गटक जाना चाह रहे हैं, स्त्री धोती पकड़ कर रो रही है—और अविनाश की अम्मा समझा रही हैं—कि क्या मुझे और कोई घर-

कानन

गिरस्ती का काम ही नहीं है जो आपके साथ सिर्फ “सुवासिनी” २ सोचता रहूँ ! उन्होंने बुआ को रुपए भी दिए हैं और धमकी भी, कि अगर मैंने आपका साथ नहीं छोड़ा, तो फिर वह मेरी स्त्री को अपने मंतर से काट डालेंगी, ऐसी हालत में पंडित जी ! बगैर स्त्री के इस दुनिया में जीने से फायदा ही क्या है ? मैं जाता हूँ—अविनाश भैया के घर सत्यनारायण की पूजा है, मुझे भी खाने के लिए आग्रह किया है।” .

सुनते ही मेरे पैर के नीचे से ज़मीन खिसक गई !

मैंने मन ही मन कहा—“बस अब सब ठोक हो गया। खुश रहो, अविनाश !—तुम्हारा ही पौ बारह है। इस झूठी दुनिया में न कहीं ईश्वर है और न कोई धर्म !—खूब खुल कर खेलो, मैं भी अपनी करन्ती का फल पा गया !”

देखते ही देखते प्राणों की ज्वाला में पिघल-पिघल कर मेरा सत्य, मेरा विश्वास आँखों की राह वह चला। मैं वहीं पर मूर्च्छित होकर गिर पड़ा।

आँखें खुलने पर देखा—विश्वबंधु मेरे सिरहाने बैठे हैं ! मैंने पूछा,

“वे सब कहाँ गए—?”

बड़ी मुश्किल से जबाब दे पाए वह—“डॉक्टर अविनाश के वहाँ चले गए ! आज उनके घर पूजा है न !”

मैंने विश्वबंधु का हाथ अपने हाथ में लेकर पूछा—“भाई !

तब तो इस दुनिया में किसी पर भी विश्वास नहीं किया जा सकता न ? श्यामाकान्त ही की प्रेरणा से परेशान होकर मैंने सुवासिनी के बारे में सोचना शुरू किया था, जिगर का हाल जानने के लिए मैंने उसे श्यामाकान्त ही के द्वारा छन भर अपने पास बुलाया था, जिसकी वजह से आज अविनाश की किस्मत पलट गई और मैं पृथ्वी का भार हो उठा; वह ठहाका मार कर हँसने लगा और मेरे सर पर बदनामी की बिजली गिरी; उसके घर में सत्यनारायण की पूजा होने लगी और मुझे आँसुओं का त्योहार मनाना पड़ा ! और फिर सुवासिनी के लिए तो सब ओर अँधेरा ही अँधेरा हो गया !”

“सो सब ठीक है। पर आखिर किया क्या जाय ?”

“तुम कुछ न करो, पर कम से कम मुझे तो मत रोको।”

“तो तुम क्या करना चाहते हो ?—बताओ !”

“अभी कुछ न कहूँगा, क्यों तो ज़रा सुवासिनी पर भरोसा होता है, जाने वह क्या करना चाहती है !”

(७)

मुझे घर छोड़े छः मास बीत गए। बीच-बीच में विश्वबन्धु से वहाँ का हाल मालूम होता रहा। बड़ी-बड़ी मुश्किल से दिन कट रहे थे।

उद्देश्यहीन जीवन चलता जा रहा था, स्नेह-हीन दीपक जलता जा रहा था।

पर इधर कई रोज़ से क्यों तो तबियत बहलने लगी थी । शायद नरक में रहते-रहते उसी को स्वर्ग मानने लग गया था, हमेशा रोते-रोते आँसू ही को हँसी समझने लग गया था ।

आज फिर विश्वबन्धु की चिट्ठी आई है । देखो न, नाराज होकर ऊपर ही लिफाफे पर लिख दिया है—

“अब मैं तुम्हारे पास पत्र नहीं लिख सकूँगा भाई ! मुझे माफ़ करना ।”

खैर, इसमें माफ़-वाफ की क्या बात है ! मत भेजना बाबा ! जैसी तुम्हारी मर्जी । लेकिन मैं कम से कम इसे तो पढ़ लूँ, क्या लिखा है ?

“प्रिय भाई रमारमण !

मैंने तुम्हारे लिए सत्य और अहिंसा के सिद्धान्तों को ठुकरा कर, ईश्वर के सम्मुख जो अक्षम्य अपराध कर डाला है, उसका प्रायश्चित्त पूर्ण करने के लिए अब किसान-आन्दोलन में प्रमुख भाग लेने जा रहा हूँ । तुम्हें यह जान कर परम प्रसन्नता होगी कि डाक्टर अविनाशचन्द्र तथा उनके सभी साथी इस काम में मेरा हाथ बटाने के लिए तैयार हैं । डाक्टर साहब ने तो सौ रुपयों का अग्रिम दान देकर हमारे आन्दोलन की जड़ को पूरी तरह मजबूत कर दिया है । उनकी इस उदारता के लिए हम उन्हें कोटि-कोटि बधाइयाँ देते हैं ।

“मुझे यह सूचित करते अपार हर्ष हो रहा है कि अब यहाँ

सुवासिनी की चर्चा का स्थान किसान-आन्दोलन ने ग्रहण कर लिया है। बाबू वृन्दावनबिहारी लाल ने बंगाल जाकर सुवासिनी के मा-बाप को खुश कर दिया है। उन लोगों ने मुक्त-कण्ठ से प्रविनाशचन्द्र जी को निरपराध ठहराया है। ऐसी दशा में अब तुम्हें अपने को अपराधी मानने में हर्गिज दुःखित न होना चाहिए।

“भाई, जिसे दुनिया झूठ कहे, वह झूठा है, जिसे सच कहे, वह सच्चा है। चाहे वह सच को झूठ और झूठ को सच क्यों न कह दे, पर उसे चुपचाप मान लेना पड़ता है। यही दुनियादारी का दस्तूर है।

“मैं जानता हूँ कि तुम निरपराध हो, सच्चे हो, पर जब तुम्हारी अपनी स्त्री तक के यह कहना पसंद न किया तो फिर मैं ही अकेला कब तक उस बला को सर पर उठाए फिरेगा ? उससे हमारे आन्दोलन को भी तो काफी घाटा लगता है !

“श्यामाकान्त आदि सकुशल हैं। डाक्टर साहब का काम बहुत बढ़ गया है, उन्होंने कई नए-नए नौकर बहाल किए हैं, श्यामा को भी अपने ही ऑफिस में रख लिया है।

“जटेश्वर के बड़े भाई मर गए, घर में श्राद्ध तक के लिए पैसे न थे, सब डाक्टर साहब ने अपने पास से खर्च किए। सारा गाँव उनको श्रद्धा की दृष्टि से देखने लगा। भाई, कभी-कभी घर पर भी पत्र भेजा करो, तुम्हारे पिता जी दुःखित

कानन

रहते हैं। इस वक्त सबने उनका साथ छोड़ दिया है, कम से कम तुम मत छोड़ो !

“और हाँ, एक बात तो मैं लिखना ही भूल गया। सुवासिनी अनाथाश्रम में सुरक्षित है। बीच-बीच में डाक्टर साहब तथा उनके आदमियों से उसे पूरी सहायता मिलती रहती है। वह अब उन पर प्रसन्न है। उनकी अच्छाई की तारीफ़ करती है।

“अधिक क्या लिखूँ ? संक्षेप में इतना ही समझो कि अकेले बाबू वृन्दावनबिहारीलाल की कृपा तथा सत्प्रयत्न से सारे गाँव में पूर्ववत् शान्ति का साम्राज्य स्थापित हो गया है। सब अविनाश के साथ हो गए हैं, सभी अविनाश के पथ पर हैं।”

तुम्हारा सच्चा स्नेही

“विश्व-बन्धु”

“सभी अविनाश के पथ पर हैं !”—जैसे मैंने बेहोशी में दुहराया, “मूठी बात, मूठी बात विश्व-बन्धु !

“श्यामाकान्त अविनाश के पथ पर है, सुवासिनी अविनाश के पथ पर है, तुम अविनाश के पथ पर हो, मेरा साथी कोई नहीं, मैं एकाकी, मैं अकेला,…………… !

“नहीं-नहीं तुम सच कहते हो भाई ! सचमुच सारी दुनिया अविनाश के पथ पर है ! सिर्फ मैं,—सिर्फ मैं ही विनाश के पथ पर हूँ ! आह !!

दो दोस्त

“उहँक ! किस्मत की बात मैं क्या बताऊँ ? जो होना होगा, होगा । सुना नहीं,—“होता वही है जो मंजूरे खुदा होता है !”

कह कर रामकुमार ने लापरवाही से करवट बदल ली ।

“सो सब सुना है शायर साहब ! मगर ज़रा हाथ-पाँव हिला-कर एक दफ़ा आजमाते ! बग़ैर दाँत और जीभ को परेशान किए आसानी से मुँह का घास भी तो गले के नीचे नहीं उतर पाता !”—आनन्दशङ्कर ने उच्छ्वसित होकर अपनी सम्मति प्रकट की ।

“तो आखिर तुमने तय क्या किया है ?”

“यही कि किसे बड़े शहर में चल कर कुछ पैसे-वैसे कमाएँ; वहीं कहीं व्याह-शादी कर लें, फिर घर-गिरस्ती के साथ मजे से बची हुई जिन्दगी गुजारे।

“पेड़-पौधों के नीचे रात बिताना; दिन में चने का सब्ज साग और लहू-लुहान उँगलियों से वन-वेर तोड़-तोड़ कर खाना; फिर चश्मे का जुकामी पानी पीना; और सब के बाद सुबह-शाम राम-राम करने की जगह किस्मत के नाम रोना,—कम से कम मुझे तो पसंद नहीं है।”

“अच्छा रहेगा, तुम कहीं चले जाओ दोस्त ! कमाओ, खाओ, घर-गिरस्ती बसाओ। मेरी चिन्ता छोड़ दो। मुझे तो बस किस्मत ही का पूरा-पूरा भरोसा है।

“जब मैं अच्छे-अच्छे पढ़े-लिखों को दर-दर ठोंकरें खाते, रास्ते की धूल फाँकते देखता हूँ तो मुझे उद्योग—अर्थात् उछल-कूद के नाम से भारी नफरत हो जाती है। इस दुनिया में ऐसा कौन अभागा होगा जिसे सुख से जीना पसंद नहीं ? कौन इसके लिए मिहनत, दौड़ धूप नहीं करता, पर बताओ तो सही—कितने लोग खुशी का जीना जीते हैं ?

“इन दिन-दिन भर मिहनत-मजदूरी करनेवालों को देखो,—किस तरह खून-पसीना एक करने पर भी दाने-दाने को तरसते रहते हैं ! और एक बार उन खुशकिस्मत कुत्तों की तरफ नज़र घुमाओ, जिन्हें दिन भर में तीन-तीन बार सुवासित साबुन से

नहलाया जाता, खूब मुलायम तौलिये से पोंछा जाता, सहलाया-दुलराया जाता, छुरी काँटे से खाना खाना सिखलाया जाता, ठीक टाइम पर दूध पिलाया जाता, और सुबह-शाम मोटर पर गोद में बिठला कर टहलाया जाता है !”

“फिर इसके मानी यह हुए कि तुम इसी अँधेरे में पड़े-पड़े सड़ोगे ?”

“हाँ-हाँ और तुम जो उजियाले में उद्योग-धंधे ढूँढ़ोगे; किसी परीजाद के गले का हार बनोगे; रौशन के मजे लूटोगे; आसमान में मजमून बाँधोगे;—उसका एक-एक खयाल ख्वाब की तरह मेरी सूनी आँखों में मँड़लाता रहेगा, मेरी खुशी के लिए क्या इतना ही कुछ काफी न होगा ?”

“अच्छा-अच्छा, तो तुम रहो यहीं, मैं अकेला ही जाता हूँ। लेकिन काश तुम्हारा साथ भी होता तो सफर में तकलीफ का नामोनिशां नहीं रह जाता। दोनों साथ-साथ नौकरी तलाश करते, अब तक की तरह बाकी दिन भी साथ ही रह कर, एक दूसरे के सुख-दुखों के सच्चे साथी बन कर बिता देते।”

“ऐसा सुख जब मेरी किस्मत में नहीं लिखा तो मुझे क्या करने कहते हो मेरे दोस्त ! लिखा होता तो तुम्हारे सारे खेत यों ही नीलाम न हो जाते ! तुम्हारे पिता जी दाने-दाने के मोह-ताज होकर नहीं मरते और आज तुम यों फकोर बन कर झोली न उठाते—आनन्द-शङ्कर !”

आनन्दशङ्कर कलकत्ता चला गया। वहाँ उसने एक सेठ की दूकान में कपड़े में तह लगाने की नौकरी कर ली। खा-पीकर महीने में दस रुपए बचते थे। खूब मिहनत और ईमानदारी से काम करने के कारण हमेशा तबियत खुश रहती थी। हाँ, बीच-बीच में जब रामकुमार की याद आती थी, थोड़ी देर के लिए उदास हो जाता था।

सोचने लगता था—यह गरीबी भी कैसी बुरी बला है, इसके चलते आदमी कितनी-कितनी दूर परदेश में जाकर रहने को विवश हो जाता है? घर-बार, स्नेही-परिवार सबसे बिछड़ कर इस पापी पेट की चिन्ता में दिन-रात मग्न रहना पड़ता है! मेरा और कोई नहीं तो एक दोस्त तो जरूर था, उसके साथ बचपन से आज तक खेला-कूदा था, थोड़ा-बहुत पढ़ा-लिखा भी था! लेकिन गरीबी ने आज मुझसे उसे भी छीन लिया!

फिर दूसरे ही छन मन ही मन यह कह कर शान्त हो जाता था—कि आखिर आदमी पैदा भी तो इसीलिए हुआ है! अगर मैं भी लुगाई की नाई घर में लुका रहूँ—तो काम कैसे चलेगा? रामकुमार जिद्दी है; हठी है;—तकलीफें बर्दाश्त करता हुआ मर जाना चाहता है, पर तक्रदीर के सामने तदबीर की हस्ती मानने को तैयार नहीं होता। अपने पर नहीं तो अपने बूढ़े बाप पर भी तनिक तरस नहीं खाता! क्या किया जाय? लेकिन मेरा अपना

खयाल तो यही है कि निकम्मा हो कर मरने से काम करते-करते मर जाना बेहतरीन है ।

तीन ही महीने के बाद सेठ आनन्दशङ्कर पर रीझ गया । इतना ईमानदार और सच्चा आदमी उसकी दूकान में कभी नहीं रहा था । उसने आनन्दशङ्कर की तनख्वाह ड्योढ़ी कर दी, छः महीने बाद दूनी, बरस लगते-लगते चौगुनी । फिर भी उसे सन्तोष नहीं हुआ । इसकी भी एक वजह थी, आनन्दशङ्कर को जो रुपए मिलते थे, वह उन्हें उसी के पास जमा कर देता था । कभी उसने एक पैसे तक की फरमाइश पेश नहीं की, एक घंटे के लिए भी नाजायज़ छुट्टी नहीं माँगी, उसे सिर्फ़ काम करना आता था और सो भी पूरी चौकसी और मिहनत के साथ । सेठ इसीलिए उसे अपने बेटे से भी ज्यादा हसरतभरी निगाह से देखने लगा था ।

इसी बीच सेठ की लड़की का ब्याह हुआ । आनन्दशङ्कर को बड़ी कड़ी मिहनत करनी पड़ी । जिन कठिन से कठिन कामों को और लोग न कर सकने के कारण छोड़ देते थे, उन्हें चुपचाप इसी को सुपुर्द कर दिया जाता था, क्योंकि इसने तो 'ना' कहना सीखा ही नहीं था । इसे कई-कई रात लगातार जागना पड़ा और फिर इसी सेवा के फल-स्वरूप कई-कई रोज़ तक मेवा भी खाने को मिला । यानी यह बुरी तरह बीमार हो गया । मलेरिये की मार से इसका साहसी हृदय भी हार गया ।

बारातियों को विदा करने के बाद सेठजी को आनन्दशङ्कर की सुध हुई, उन्होंने दवा-दारू के इंतजाम में कंजूसी नहीं की। दो ही हफ्तों में आनन्दशङ्कर भला चंगा हो गया।

एक रोज़ सेठजी उसे अपनी कार में बिठलाकर घर ले गए, वहाँ सेठानी के हाथों से तश्तरी भर मिठाइयाँ दिलवाने-खिलवाने के बाद पूछा—“आनन्दशङ्कर ! बहुत रोज़ से मैं तुमसे कुछ बातें करना चाह रहा था, पर एक न एक रुकावट सामने आ जाती थी, आज मुझे मौका मिला है। सच-सच बतलाओ, तुम कौन हो ? तुम किसी गरीब के लड़के नहीं मालूम पड़ते ? क्या घर से रूठ कर भगे हो ? तुम्हारे घर में और कौन-कौन हैं ? तुमने कितना पढ़ा है ?”।

सवाल की झड़ियों पर आनन्द को हँसी आ गई। उसने कहा, “सेठजी ! फिर किसी दिन सारा हाल बतलाऊँगा। आज दूकान के कई ज़रूरी काम मेरे जिम्मे हैं, मुझे वहाँ तुरत लौट जाना चाहिए।”

आनन्द को खुशी-खुशी दूकान जाने का हुक्म देकर सेठजी बहुत देर तक घर में उसकी चर्चा चलाते रहे। सब उसके अजीब दास्तान पर अचरज करने लगे। सेठानी तो इस नतीजे पर पहुँच गई कि उसके जोड़ का कोई दूसरा आदमी कलकत्ता शहर भर में होगा ही नहीं।

(३)

रामकुमार उस प्रकृति का पुरुष है जो भूखों मर जाना पसंद करता है, पर नाहक किसी हृदयहीन धनी की चापलूसी कर अपनी उदात्त आत्मा को कुण्ठित करना नहीं। वह गरीब का लड़का है, पर दिल का इतना अमीर कि दूसरे-दूसरों की भलाई के लिए हमेशा हथेली पर जान रखे रहता है। आनन्द-शंकर से उसकी दोस्ती ऐसे ही सिलसिले में हुई थी।

दोनों हाइस्कूल के विद्यार्थी थे। फुटबॉल, बॉलीबॉल, टेनिस, क्रिकेट—सब के उस्ताद खेलाड़ी। पर आनन्द टेनिस अच्छा खेलता था, और रामकुमार क्रिकेट। आनन्द की अंग्रेजी अच्छी थी, रामकुमार की हिन्दी। हालाँकि अंग्रेजी स्कूलों में हिन्दीदाँ की कद्र ही कितनी होती है—लेकिन रामकुमार में एक और दैवी गुण था। उसे पद्य बनाने का अच्छा अभ्यास था—लड़के उसे “भावी कवि” कह कर बढ़ावा देते थे, जलनेवाले ‘भाभी कवि’ कहकर मजाक भी करते थे। उसका गला भी कलापूर्ण था—मजे से गा लेता था अपनी कविताओं को। वार्षिकोत्सव के अवसर पर कई बार स्कूल से इनाम भी पा चुका था। इतना ही नहीं, ज़रा मजाकपसंद आदमी भी था।

एक रोज़ आनन्दशंकर से कहा कि तुम्हारे जैसे घुँघराले-घुँघराले बाल हैं, उलझाओ न किसी भले घर की एक रुपयोंवाली रूपसी को। फिर तो तक्रदीर खुल जायगी। और नहीं श्यामा

कानन

ही की तरफ बाँह फैलाओ। तुम्हारी बगल ही में तो बैठती है एक पीरियड ! संस्कृत का बुद्धू पण्डित, श्लोक के बाल की खाल निकालता रहता है, तबतक तो चार बार आँखें चार की जा सकती हैं।

आनन्दशंकर ऐसी-ऐसी बातों में बिलकुल बेवकूफ पड़ता था, सचमुच ही छेड़खानी कर बैठा श्यामा के साथ। श्यामा बड़े बाप की बेटी थी, इस नन्हीं सी घटना को बड़ी तूल दी गई। उस स्कूल से 'रेस्टिकेट' कर दिया गया बगैर ज्यादा जाँच-पड़ताल के।

रामकुमार के कानों में यह खबर पहुँचने भर की देर थी, वह आग-बबूला हो गया। सीधे हेडमास्टर के पास पहुँचा। एक साँस में आनन्द की अच्छाईयाँ बखान गया। कई क्लाबिल लड़कों से गवाही दिलाई। लेकिन हेडमास्टर ने सुनी अनसुनी कर दी। तब श्यामा के पिता से प्रार्थना की,—वह श्यामा से पूछ देखें आनन्द ने सिर्फ उसके हाथ से एक किताब उठा ली थी ! पर उन्होंने ठीक-ठीक जवाब देना तो दूर, उसे नौकर द्वारा कमरे से बाहर निकलवा दिया।

यह अन्याय उससे बर्दाश्त न हुआ। लेकिन भीतर ही भीतर जल-भुन कर रह जाने के अलावा वह कर भी क्या सकता था ? सोचा, गलती उसकी थी। आनन्द जैसे सीधे आदमी को खोटा करार दिए जाने का सारा अपराध उसी के माथे पर था। तो फिर वह क्या करे त्याग, बलिदान आनन्द के आनन्द

के लिए ? उसने खुद भी पढ़ना छोड़ दिया । दूसरी जगह जाकर पढ़ने का खर्च उन लोगों के पास न था । यह तो घर से दो ही कोस के फासले पर स्कूल था, रोज़ पैदल आते-जाते थे—किसी तरह काम चल जाता था । ख़ैर दोनों की दोस्ती तभी से ज्यादा गहरी और रंगीन हो उठी थी ।

इधर एक वर्ष से भी अधिक हो गया, आनन्दशङ्कर को उसने समझा-बुझा कर कलकत्ता भेज दिया था । दोनों दो मिजाज के थे सही, पर दो दिल के तो हर्गिज न थे । राम-कुमार मर कर भी ऐसा नहीं सोच सकता था कि आनन्द उसे इस प्रकार भूल जायगा । देखते ही देखते दो वर्ष और बीत गए । पर उसके पास आनन्द का एक भी पत्र नहीं पहुँचा, उसके आने की तो कोई कल्पना ही न थी ।

इस बीच नई-नई कविताओं से रामकुमार की कई कापियाँ भर चुकी थीं । वह उन्हें आनन्द को सुनाने के लिए आकुल हो रहा था ।

एक दिन सावन की घनघटा आसमान में घिरी थी । रिमझिम-रिमझिम पानी की बूँदें बरस रही थीं । खेतों में मजदूरोंने एक स्वर से अति करुण संगीत अलापती हुई धान के पौदे रोप रही थीं । हलवाहों के छोकरे परती पड़े खेतों की मेड़ पर बैल चरा रहे थे, उनकी घंटी की आवाज़ वहाँ की प्रकृति को मधुर तथा मार्मिक बना रही थी । और वहाँ से एक-

दम पास पलाश-वन में रामकुमार के पिता की चिता धुआँतो हुई धीरे-धीरे जल रही थी। रामकुमार भविष्य की चिन्ता में डूबा हुआ था। उसकी दाहिनी भौंह ऊपर उठकर, माथे से नीचे उतरे आते बालों से सटी जा रही थी। ललाट पर की तीनों गहरी रेखाएँ छन-छन में सीधी-टेढ़ी हो रही थीं। आज पहिली बार पिता के लिए उसकी सूखी आँखों में सावन का पानी आया था। उसे तनिक भी विश्वास न था कि उसके पिता की इस प्रकार मृत्यु होगी। वह उनके लिए दवाओं का भी इन्तजाम न कर सकेगा। गाँव के लोग गंगाजल और तुलसीदल ही मुँह में डाल कर उनके प्राणों की प्यास बुझा सकेंगे !

वह सोच रहा था—“इसी को तो दुर्भाग्य कहते हैं ! मैं उनके कुछ भी काम नहीं आया। वह ज़िन्दगी भर मेरे सुखों का खयाल करते आए, पर मैं आखिरी वक्त भी उनके दुःखों को नहीं समझ सका। कितनी आशा थी उन्हें कि मैंने अंग्रेज़ी पढ़ी है। कहीं न कहीं मुझे अच्छी सी नौकरी मिल जायगी। मैं शहर में रहूँगा। उन्हें भी कहीं आराम से रखूँगा। तन-रुवाह की रकम से कुछ-कुछ बचाकर उन्हें काशी विश्वनाथ के दर्शन करा दूँगा, त्रिवेणी के संगम से स्नान करा लाऊँगा। शादी-व्याह करके भले आदमी को तरह ज़िन्दगी बिताऊँगा। पर मैं कुछ भी नहीं कर सका, उनकी एक भी खाहिश पूरी न हो सकी। कैसी खोटी किस्मत है मेरी।”

दो दोस्त

इसी समय अप्रत्याशित आनन्दशंकर उस ठौर आता दीख पड़ा। उसे देखते ही रामकुमार फूट-फूट कर रोने लगा। गाँव में पैर रखने के साथ-साथ आनन्द को रामकुमार का सारा हाल मालूम हो चुका था, यहाँ उसकी ऐसी दशा देख कर तो उसे काठ मार गया, वह भौंचक सा खड़ा रह गया।

(४)

आनन्द को गाँव आए लग भग दो मास हो चुके थे। मुश्किल से पन्द्रह दिन और बचे थे छुट्टियों के। रामकुमार के पिता की श्राद्ध-क्रिया से जो दो-तीन सौ रुपए शेष रह गए थे, उन्हीं से एक छोटी सी कपड़े की दूकान खोलकर वह विजया-दशमी के दिन रामकुमार को समझा-बुझा कर वहाँ ले गया। रामकुमार को राजी करने में उसे जितना परिश्रम करना पड़ा, उतना दूकान की सारी व्यवस्था में भी नहीं।

उसने बताया कि इस काम में किसी के पास पेट दिखाने जाने की जरूरत नहीं; चापलूसी के लिए मरजी के खिलाफ़ एक भी शब्द मुँह से निकालना नहीं पड़ता। फिर जब तक वह कलकत्ते में सेठ के घर नौकर है, उसके लिए सस्ती से सस्ती रेट पर अच्छे-अच्छे कपड़े हर वक्त भेजता रहेगा। उसे कुछ भी फिकर करने की जरूरत नहीं। वह सिर्फ़ ग्राहकों के साथ मधुर व्यवहार रखकर ही काफी फायदा उठा सकेगा। आनन्द को किसी-किसी भाँति सफलता प्राप्त हुई।

रामकुमार ईश्वर और भाग्य-चक्र पर पूर्ण विश्वास रखता था। इसलिए,—मन ही मन जैसी ईश्वरेच्छा, जैसी भाग्य की विडम्बना कह कर दूकान में बैठने की मौन स्वीकृति दे दी। आनन्द ने दो-चार रोज़ तक खुद बेच-बेच कर उसे इस कला में प्रवीण बनाने की भर सक चेष्टा की। फिर भुजाओं में भर कर विदा माँगी, उसके पास सेठ की दूकान से अब तक कई पत्र बुलावे के आ चुके थे। रामकुमार अपने दोस्त को एकटक देखता रहा पर आनन्दशङ्कर की आँखें जल्द भर आईं, वह अपने प्यारे दोस्त को बहुत देर तक देख भी नहीं सका।

सेठ आनन्द को उसके घर भेज कर पछता रहा था। जब से उसे यह मालूम हुआ था कि उसके घर में कोई नहीं, वह महज़ अपने दोस्त से मिलने और तीन वर्षों की मज़दूरी उसीके कर-कमलों में समर्पित करने गया है, परेशान हो उठा था। उसके दिमाग में यह बात आती ही नहीं थी कि जो आनन्द काम करने में इतना होशियार है, वह रुपयों के मामले में इतना बेवकूफ क्यों है? आखिर ये सब ओस्त-दोस्त तो बने-बने के होते हैं, इन्हें भला तीन साल की कमाई का जुगोया हुआ एक-एक पैसा छन भर में देकर कभी न कभी पछतावे की ज़मीन पर पछाड़ खाकर गिरने से क्या फ़ायदा?

लेकिन जब उसने आनन्द को अपनी दूकान के सामने रिक्शे से उतरते देखा, तो उसके आनन्द का ठिकाना न रहा!

कुशल-मङ्गल के बाद, वह जिस उधड़ेबुन में कई-कई रोज़ से पड़ा था, साफ-साफ पूछ बैठा। आनन्द ने विहँस कर बताया कि उसका दोस्त न सुख का संगी है और न दुख का। वह सुख-दुख की सीमा से पार एक ऐसे केन्द्र-स्थल में स्थित है, जहाँ से आनन्द के हृदय में कर्त्तव्य की प्रबल प्रेरणा भरता रहता है। अगर आज वह न होता, तो आनन्द को कहीं नौकरी करने की ज़रूरत भी न होती।

तो इसका अभिप्राय यह नहीं कि उसकी दोस्ती ने आनन्द को गुलामी का पाठ पढ़ाया है, नहीं, उसने तो इसे जीवन्मुक्त बना दिया है, सिद्धान्त के कठोर अनुशासन का सुमधुर फल चखा दिया है। यह उसी की कृपा है कि आनन्द अहोरात्र के श्रम को कर्त्तव्य तथा मनुष्यत्व के नाम से पुकारने लगा है, और यह उसी का अदृश्य सर्वस्व-दान है कि आनन्द आज अपने को सम्राट् समझता है।

सेठ की समझ में खाक कुछ न आया, पर वह बराबर मुद्राओं द्वारा अपनी नासमझी छिपाता रहा। सब सुनने के बाद आनन्द की पीठ ठोंक कर सिर्फ़ इतना कहा कि—आज की दगाबाज़ दुनिया में तुम्हारे जैसे सीधे, सच्चे व्यक्ति का होना बड़े आश्चर्य का विषय है।

(५)

रामकुमार भाग्यवादी था सही पर आलसी नहीं था। साफ़ रास्ता पाकर मंजिल तक पहुँचने का प्रयत्न करने लगा। हँसोड़

कानन

तो था ही, ग्राहकों को खुश रखना उसके लिए बाएँ हाथ का खेल रहा। आशा से अधिक रोज़गार में तरक्की होती दीख पड़ी। पास के स्टेशन से कलकत्ते का भेजा हुआ माल लाने खुद जाने लगा था। आते-जाते कई भलेमानसों से पहचान हो गई, मुहब्बत बढ़ने लगी। गाँव वालों की मदद और सलाह से फ़ायदा उठा कर उसने दूकान का मकान नए सिरे से बनवा लिया। “आनन्द-वस्त्रालय” आस पास के ग़रीब देहातियों के नंगे तन, अधिक से अधिक अपने वस्त्रों से ढँकने लगा। आनन्द पत्रों में यह सब समाचार पढ़-पढ़ कर प्रसन्नता के मारे फूला नहीं समाता था। इस बार रामकुमार ने लिखा कि लोग उसे शादी करने के लिए बहुत तंग कर रहे हैं, इस विषय में आनन्द की सम्मति ही पर्याप्त न होगी, उसे स्वयं भी आना पड़ेगा।

आनन्द ने कम से कम पाँच वर्षों बाद फिर घर जाने की सोची थी। इधर उसे प्रतिमास प्रायः पचास रुपयों की बचत हो रही थी। अब के गहरी रकम ले जाकर अपना और रामकुमार का ब्याह करना था। पर अभी चार साल भी पूरे न हो पाये थे कि रामकुमार और दूसरे-दूसरों की चिट्ठियों का ताँता बँध गया। इधर छः महीनों से तो लड़कीवालों ने परेशान कर डाला था। आखिर आनन्द ने फिर दो मास की छुट्टी ले ली। यह चार वर्ष उसके लिए दो हफ्ते साबित हुए थे, जैसे पलक मारते बीत गए हों,—ऐसा कर्मयोगी था वह !

घर आने पर इसबार गाँव का रंग-ढंग बहुत कुछ बदला पाया। कांग्रेसी आन्दोलन का असर भारत के कोने-कोने पर पड़ चुका था, उसीका गाँव कैसे अच्छा छूट जाता ? वह जिस “मँडैया” में दूकान खोल कर गया था, वह अब एक बंगलानुमा खूबसूरत मकान बन चुका था। उसपर कांग्रेस के तिरंगा झंडा फहरा-फहरा कर आनन्द के अन्तर को जाने कौन सा शान्ति-सन्देश सुना रहा था—वह पुलकित हो-हो कर बहुत देर तक उसे देखता रहा।

पत्र में तो रामकुमार अपनी शादी के बारे में लिख करता था, पर सचमुच उसने ठीक की थी आनन्द की शादी पहले तो इसी बात को लेकर खूब हाहा-हीही हुई, बाद काम की बातों की बारी आई। आनन्द ने रामकुमार के लिए भी लड़की खोज ली, दोनों के व्याह की तैयारियाँ होने लगीं। गाँव की स्त्रियाँ इन दोनों की माँ-बहनों के तमाम काम सचाई के साथ करने लगीं, इन्हें सिर्फ रुपए खर्च करने पड़ते थे।

(६)

“अब बताओ”—आनन्दशङ्कर ने रामकुमार के पास अपनी कुर्सी खिसका कर गम्भीरता से पूछा—“कौन बड़ा है दोनों में—भाग्य या उद्योग” ?

रामकुमार ने कहा—“न पूछो तो बेहतर हो।”

“नहीं क्यों पूछूँ ?”—आनन्दशङ्कर ने जोर दिया—“तुमने मुँह की खाई और मैंने विजय पाई है, मुझे अब तुम्हारे मुँह से सब कुछ कहलाने का अधिकार है !”

“यानी” ?—रामकुमार ने आश्चर्य्य प्रकट किया ।

“यानी क्या ? देखो उद्योग के आदर्श का फल । अब भी मान लो कि हम स्वयं अपनी किस्मत के बनाने-बिगाड़नेवाले हैं । मैं मानता हूँ कि मुझे बड़ी कड़ी मिहनत करनी पड़ी, लेकिन उसका नतीजा भी तो बड़ा अच्छा हुआ ! यह बंगला, यह दूकान, ये रुपए, ये विवाह—और यह ऐसे तुम—सब मेरे उद्योग से ही तो सम्पन्न हुए ? खैर, जाने दो मेरी बात । अपने ही को देखो न, अगर मैं कुछ उद्यम न कर तुम्हारी ही तरह भाग्य-भाग्य चिल्लाया करता तो आज तुम……………… !

“बस-बस, अब बहुत न बको । समझा, सपूत हो तुम ! बड़े बनने चले हो उद्यम-उद्योगवाले ! लेकिन समझ रखो । अगर यह सब मेरी किस्मत में न होता तो तुम क्या ? तुम्हारे मुए देवते भी मेरा कुछ न बना सकते थे !”

रामकुमार को एकाएक ‘सीरियस’ होते देख आनन्द की सारी शेखी भूल गई । उसने हँसने की कोशिश की, लेकिन—

“एक संग किमि होहिं भुआलू,

हँसब ठठाब फुलाउब गालू ?”

रामकुमार पहले भी रह-रह कर इस भयङ्कर प्रश्न को मन ही मन

सोचा करता था, पर आनन्द के मुँह से इसे इतनी जल्दी सुनने की उसे सचमुच हो आशा न थी।

सम्पूर्ण दुर्बलताओं की बोलती प्रतिमा, छोटी से छोटी क्षुद्रताओं का महान् प्रतिनिधि है यह मानव—यह मनुष्य ! कौन कह सकता है कि इसकी सात्विकता, इसकी सचाई के भीतर से कौन सा आडम्बर, कौन सी वासना दीर्घ उच्छ्वास छोड़ती रहती है ? किसने मानव के हृदय का मन्थन कर अमृत और विष के प्याले ढाले हैं ? किसने अब तक इसकी आत्मा को सम्पूर्ण रूप से छूने में सफलता प्राप्त की है ? अशेष विश्व के कोटि-कोटि जन-समुदाय में से किसी एक ने भी तो एक आदमी की भी ठीक-ठीक, सच्ची-सच्ची पहचान नहीं पाई है !

उस सीधे सच्चे—आनन्दशङ्कर के खिले दिल के गुलाब में भी एक छोटा सा कीड़ा छुपा हुआ था। वह धीरे-धीरे पंखुड़ियों को तहें काटता हुआ आज इतने दिनों बाद बाहर निकला, और रामकुमार के कलेजे में सुई की चोखी नोक की तरह चिपक कर चुभ गया।

रामकुमार बड़ी से बड़ी तकलीफें बर्दाश्त कर सकता था, पर किसी का गरूर हर्गिज नहीं। उससे बोले बग़ैर नहीं रहा गया—

“तो तुम इसीलिए मेरी इतनी खातिरदारी करते थे कि मैं जैसा सब ओर से दीन हूँ, अभागा हूँ, दुर्बल हूँ, तुम जब चाहो मेरे कलेजे पर पैरों से कस कर प्रहार करो ? लेकिन भूलो मत

आनन्द ! आज मेरे पास पैसे नहीं हैं, मगर मुझमें उन्हें छन भर में लुटा देने की ताकत अब भी ज्यों की त्यों है। अगर तुम समझते हो कि यह सारी सम्पदा मेरी है, तो मैं मुक्तहस्त होकर उसे आज तुम्हें दे रहा हूँ ! तुम्हें पैसे चाहिए ! उनके लिए तुम दूर देश तक धावा बोल आते हो, तुम्हें इन्हें लेने में हिचकिचाहट नहीं होनी चाहिए ! और मेरे लिए ? ओह—मेरे लिए मेरी किस्मत ही काफी है ।”

आनन्द बोले तो क्या बोले ? उसके हृदय का पाप वाणी द्वारा प्रकट हो चुका था । उसके मज़ाक में जो व्यङ्ग्य था, वह रामकुमार से छिप कर नहीं रह सका था ।

हाय रे दुर्बल मनुष्य ! तेरी तपस्या भी तामसी होती है ? तेरा त्याग भी यश की लालसा से खाली नहीं रहता ? तेरी कठिन से कठिन साधना भी दिली दोस्त को दुखाने के लिए, उस पर अपना रोव गालिब करने के लिए हो सकती है ?

रामकुमार की आँखों से आँसू की बूँदें टपटप टपक रही थीं, उसने झुककर आनन्द के चरण लुए, फिर तनिक मुसकिला कर कहा—“मेरी यही अन्तिम साध थी दोस्त ! मेरी किस्मत में तुम्हारे पाषाण-हृदय का नहीं, तुम्हारे कमल-कोमल चरणों का सुख-स्पर्श लिखा था !”

ईश्वर

नरेन माँ-बाप का इकलौता दुलारा है। उस दिन उसके सातवें सालगिरह के मौके पर घर में जो तैयारियाँ हुई, बाजे-गाजे; पूजा-आरती; भोजन-भजन; तो गाँववालों की खुशी का ठिकाना न रहा। गया शहर से ४० मील की दूरी पर बसी हुई एक पुरानी सी बस्ती, अधिकांश लोग मूर्ख, गरीब; उन्होंने इस तरह वर्ष-गाँठ मनाते कभी किसी को देखा कहाँ था ? गिरोह के गिरोह बादल की तरह उसके आसमानी महल के आस-पास मँड़रा रहे थे। नरेन के पिता भी पैसों से खुल कर खेल

कानन

रहे थे उस दिन, इसलिए सब के दिलों की कलियाँ खिली हुई थीं। इतनी हँसी-खुशी, इतना राग-रंग, धूम-धाम, गाना-बजाना, खाना-खिलाना चल रहा था जैसे उस उजड़े हुए गाँव के चमन में अचानक हवा के पंखों से उड़कर वसन्त ऋतु आ गई हो !

ऊँची जात के हमउम्र लड़कों के बीच नरेन मुसकिराता हुआ खड़ा था। चाँद की तरह चमकते हुए चेहरे पर सुनहले घुँघराले-बालों के गुच्छे, होठों पर हँसी का फव्वारा, आम की फाँक सी बड़ी-बड़ी अनियारी आँखों में क्रीड़ा-कौतुक की जग-मगाती हुई जोत;—दर्शक जैसे अपने प्यासे नयन जुड़ा रहे थे, माताओं के आँचल से तो दूध छलका पड़ता था,—कहती थीं—कैसा सोना जैसा सुहावना लड़का है ! तीन पुश्त को तार देगा !

(२)

नरेन के पिता एक साथ ही वैद्य, डाक्टर, हकीम—सब कुछ हैं। मरीजों की मर्जी के हिसाब से हर तरह की दवाएँ रखते हैं। इधर देहात में उनको धाक भी खूब है। कई भाषाओं की वर्णमाला जानते हैं। कभी कोई संस्कृत जानने वाला मिल जाता है तो उसके पास होमियोपैथी, एलोपैथी, या हकीमी की तारीफें करते थकते ही नहीं। उसी प्रकार

मौलाना साहबों से 'संस्क्रित' की किताबों में बताई हुई दवाओं की बातें जोर-जोर से जतलाते हैं। और, 'कुछ भी नहीं' जाननेवालों के सामने तो एक ही दफा सब कुछ उगल देते हैं। इस तरह पढ़े-बेपढ़े सभी लोगों पर उनका रोब गालिब है। सभी उनकी सफाई के क्रायल हैं। वर्षों से सब से खूब रुपए ऐंठ रहे हैं। ज़बान-ज़बान पर उनका नाम, घर-घर, पिंजड़े-पिंजड़े में उनकी तूती बोल रही है—टें-टें-टें। आलीशान मकान, नौकर-चाकर, बाग़-फ़ुलवारी,—परम पिता परमात्मा की कृपा से कुछ भी कमी नहीं,—आसमान की ओर जुड़े हुए हाथ उठा कर यह कहते-कहते खुद वही गद्गद हो जाते हैं, अक्सर आँखों में आँसू की बूँदें छलछला जाती हैं।

इधर जब से नरेन गाँव के स्कूल में पढ़ने जाने लगा है, उन्होंने उसके सुनहले-रुपहले भविष्य की बड़ी खूबसूरत-खूबसूरत सूचियाँ तैयार कर डाली हैं। शाम को उसके स्कूल ही के मास्टर ट्यूशन पढ़ाने आया करते हैं, उनसे नरेन की पढ़ाई-लिखाई की बातें बहुत-बहुत देर तक हुआ करती हैं। नरेन जैसा तेज़ है—मास्टर को किसी भी क्रिस्म का झूठ बोलते हिचकिचाहट नहीं होती—और इसीलिए उन्हें मुफ़्त में गर्म-गर्म कचौड़ियाँ खाने को मिल जाती हैं अक्सर। बेचारे देहाती फटेहाल मास्टर, अपने ऐसे सौभाग्य पर इठलाते, नरेन को जी-जान से मिहनत कर पढ़ाते हैं।

एक दिन मास्टर साहब स्कूल में हिसाब का सवाल लिखाने लगे—नरेन ने जो कोट के पॉकेट में हाथ डाला तो पेंसिल ही नदारद । घर छोड़ आया था, बेचारा सूख गया । कोशिश करने पर भी उठ कर कहने की हिम्मत न हुई । सब लड़के कॉपी पर धड़ाधड़ पेंसिल चला रहे थे । नरेन ने एक पड़ोस के पहचाने लड़के को धीरे से इशारा किया, उसने होठों में व्यंग की हँसी फँसाए, एक स्लेट की पेंसिल निकाल कर नरेन की हथेली पर रखना चाहा, पर उसने झटपट हाथ खींच लिया । सच तो यह कि विनोद नरेन से दिल ही दिल जलता था, नरेन की तारीफ़ से उसके कलेजे में सौ-सौ सुइयाँ चुभ जाती थीं । पर वह किसी भी तरह नरेन का मुकाबला नहीं कर पाता था । इस घटना के बाद नरेन भी अधिक अधीर हो उठा, वह भीतर-बाहर से जैसा गीला-गीला सा है, शायद आँसुओं में फूट पड़ता, पर इसी समय एक नन्हीं सी पेंसिल उसकी खुली कॉपी पर पहुँच गई । उसने मुड़ कर देखा, एक दुबला-पतला साँवला-साँवला सा सात-आठ साल का गरीब लड़का मन्द-मन्द मुसकिरा रहा था । नरेन ने खुशी से पेंसिल उठा कर जल्द-जल्द हिसाब बना लिया । मास्टर की ओर से नरेन को पीठ ठोक कर शाबाशी मिली और उस अभागे साँवले लड़के को सुफेद-सुफेद बेंत, क्योंकि क्लास भर में सिर्फ़ उसी ने पेंसिल न रहने

के सबब हिसाब नहीं बनाया था। लेकिन ठीक मौके पर नरेन को पेंसिल देकर उसे जो खुशी हुई थी, बेंत की बेदर्द चोट उसमें ज़रा भी फर्क न ला सकी। वहाँ अकेला नरेन ही उसके मार खाने की वजह जानता था—भीतर ही भीतर पिघल कर रह गया।

स्कूल से लौटते समय जबर्दस्ती वह उस लड़के को भी खींच कर अपने घर ले गया। फिर माँ से साफ़ हाल बतला कर कुछ नाश्ता करने को माँगा—दोनों ने साथ ही खाया। जब लड़का घर जाने लगा तो नरेन की माँ ने प्यार से पुचकारते हुए कहा—‘फिर आना बाबू!’ लड़का ‘अच्छा’ कह कर चुपचाप चल पड़ा।

जाड़े की सन्ध्या। निठुर राक्षसी सी बेहया हवा ठंड से सिकुड़ कर जैसे उस लड़के के फटे कुरते में चुपके से छुप जाना चाहती थी—पर वह ऐसी बेबफ़ाई करते वक्त एक माँ की नज़र पर पर्दा नहीं डाल सकी। नरेन की माँ ने लड़के को ज़रा रोक और झटपट नरेन की देह का एक अच्छा सा कपड़ा लाकर उसे हिचकिचाते रहने पर भी पहना दिया। फिर पूछा—“तेरा नाम क्या है बच्चा!” उसने धीरे से—‘ईश्वर’ कह दिया।

ईश्वर की अम्माँ इतनी देर तक उसे स्कूल से नहीं लौटा देख कुछ-कुछ घबरा रही थी। इसी समय ईश्वर खुशी से नाचता-नाचता बेसुध-बिभोर सा जब जल्द-जल्द घर में घुसने

कानन

लगा, चौखट में जबर्दस्त चोट लगी, हाथ से स्लेट छूट कर टूटते टूटते बची, तब उसकी अम्माँ ने अचम्भे से देखा—ईश्वर एक नया, फबीला कपड़ा पहने हँसता हुआ उसकी पीठ की तरफ़ खड़ा है। उसने ज़रा से सवाल पर एक ही बेफ़ाँस साँस में आज की सारी खुशख़बरी सुना दी, और जोर-जोर से जोर देता हुआ कहने लगा कि अब वह फिर कल नरेन के घर जायगा। उसकी अम्माँ को इस बेपर की ख़बर से खुश होना तो दूर, वह स्याह हो गई, भौचक सी चुपचाप खड़ी रह गई।

(४)

“भीतर दूसरा कौन गुनगुना रहा है, नरेन ?”

“कोई नहीं पिताजी, यह एक मेरे स्कूल का साथी है—‘ईश्वर’ ! बड़ा अच्छा.....”

“अच्छा, अच्छा—ईश्वर ? यह कौन सा नया ईश्वर तेरा साथी बन बैठा ? अरे ईश्वर ! इधर तो आ, तेरे बाप का क्या नाम है ?”

ईश्वर के निकलने के पहले नरेन कमरे के बाहर बरामदे में आ गया, आँखों में मुसकिराता हुआ ईश्वर को ओर एकटक निहारने लगा। ईश्वर ने नरेन्द्र के पिताजी से बड़े ही अदब के साथ कहा—“मैं भीखन भंगी का बड़ा बेटा हूँ।”

—“भंगी का बेटा ? अबे ईश्वर के बच्चे, तो तुझे यहाँ बुलाया किसने ? मेरे पूजा के कमरे को तूने पाखाना समझ

रक्खा है क्या ? आखिर अन्दर कैसे पिल पड़ा ? और नरेन को छू-छू कर खेलता है तो ? बस सब सत्यानाश हो गया तभी मैं इस कमीने स्कूल में नरेन्द्र को भेज नहीं रहा था ! जहाँ ब्राह्मण-चमार, भाट-भाँड़, तेली-तमोली, भंगी-मेहतर सब एक ही घाट पानी पीते हों, सब धान बाईस पैसेरी हो, वहाँ और दूसरा होगा ही क्या ?

अरे सूअर, अब भी टला नहीं जाता ? खबरदार अगर आज से इस दरवाजे पर फिर कभी कदम रक्खा ! और यह—यह नरेन ही क्या कम पाजी है, अब सब से दोस्ती खतम हो चुकी, तो भंगी-मेहतर का साथ किया है। मैं क्या जानता था कि सोने की खान से लोहा निकलेगा, कबीर का बेटा कमाल पैदा होगा ? नरेन, मैं तुझ पर कितना भरोसा रखता था, पर आह ! तू इतना नीच, इतना अवारा-बिलकुल गाँधो निकला ? गाज गिरे उस अभागे कोइरी जगलाल महतो पर—जिसने इन सब कमीने भंगी-मोचियों को ‘हरिजन-हरिजन’ कह कर सर चढ़ा दिया है ! जिनको छाया छूने से गया-गंगा करने पर भी पाप धुल नहीं पाता, उन्हें ऊँची क्रौमों के साथ स्कूल में पढ़वाने लगा नालायक ! पर मैं ? अब मैं क्या करूँ ?”—यों भूँकते-भूँकते नरेन्द्र के पिता का स्वर पंचम से सप्तम तक पहुँच गया। सुनते ही पड़ोसी बूढ़े दमड़ी मिश्र जी हाँफते हुए आ धमके—‘आँ, क्या हुआ वैद बाबू ? आँ ?’

“कुछ नहीं, आइए मिश्र जी, यही, नरेन्द्र के बारे में कह रहा हूँ, अब यह कुछ बचा तो रह नहीं गया है ? ८-९ साल की उम्र हुई । इधर घर की मालकिन का जैसा जोर है, देखता हूँ—अगले साल तक इसकी शादी कहीं न कहीं करनी ही पड़ेगी । तिस पर देखिए न, अब सब कुछ हुआ तो भंगी-मेहतर के गंदे गधों के साथ रेंकने का नया शौक हुआ है इसे !

अरे, कोई है ? कान पकड़ कर निकाल तो पहले उस उल्लू के पट्टे को ! और, यह क्या—यह क्या ? नरेन, तू उसका हाथ पकड़ रहा है ? ओह ! अब आखिर मुझे भी जनेऊ बदलना ही पड़ा ! तो यह लो,—उल्लू, सूअर, पाजी, गधा कहीं का !”—गरजते हुए बेचारे नरेन पर बरस पड़े । यों कान मसल कर कस-कस कर चाँटे जमाए कि फूल सा, धुनी रुई सा सुन्दर सुकुमार नरेन धम्म से फर्श पर गिर पड़ा । और काठ-पत्थर की तरह चुपचाप खड़े ईश्वर को तो उन्होंने कई घूँसे, कई मुक्के लगा कर, लतिया कर, धकेल कर बाहर निकाल दिया । दमड़ी मिश्र बड़ी ही तत्परता से कमरा धुलवाने लगे, नौकर ने गोद में उठा कर नरेन को अन्दर माँ के पास पहुँचा दिया । नरेन की सूखी आँखें एकाएक भादों की नदी की भाँति उमड़ पड़ीं !

(५)

कई रोज़ बीत गए । नरेन को स्कूल जाने से रोक दिया गया । नीच जात के लड़कों के साथ बोलने-मिलने के लिए सख्त

मनाही कर दो गई। पर सच तो यह कि उस एक ही घटना, एक ही बार की मार के बाद नरेन खूद-ब-खुद बिलकुल बदल सा गया। कभी माँ से पूछता—“माँ, भंगी किसे कहते हैं—गरीब को ? तब तो इस गाँव में सब भंगी-मेहतर ही हैं ? पिता जी कहते थे कि उनके साथ बोलने-खेलने से पाप होता है !—तो यह पाप कैसा होता है माँ ?”

कभी-कभी रात को सपने में बड़बड़ाता—“ईश्वर ! मुझे तुम्हारे घर का रास्ता मालूम नहीं है, नहीं तो मैं ज़रूर आता !”

× × ×

एक दिन अचानक नरेन को बुखार हो गया। मा ने जो वैद्य जी से कहा तो वह फट पड़े उस पर,—“मैं उसकी सब शरारत समझता हूँ, अभी ‘इसबरवा’ या गाँव के और किसी सूअर के साथ खेलने के लिए कह दूँ तो यह बुखार तुरत उतर जाय ! पर मैं तो गधा नहीं हूँ, मुझे ऐसे नालायक बेटे से बिना बेटे का रहना ज्यादा पसंद है ! और.....”

नरेन को माँ अब गुस्सा सँभाल न सकी, होंठ काटती हुई कहने लगी कि—“अच्छा, तो अब आप जाइए यहाँ से ! आज ही ईश्वर मेरे घर आयगा, और नरेन उसीके साथ खेलेगा, कल से फिर स्कूल जायगा, देखती हूँ, आप क्या कर लेते हैं उसका ? चार साल का बच्चा अछूत के साथ खेलने से चमार

कानन

हो जायगा ? और अभी जो दो रुपये लेकर उसका बाप बुलाने आ जाय, तो दौड़े हुए पहुँच जायँ खुद उसके घर ! अरे नरेन, इधर तो आ, तू ईश्वर के घर जायगा या उसे ही यहाँ बुलवा दूँ ?”

“ओह हो, तुम मुझे धमकाती हो ? अब यहाँ ‘इसवरवा’ आ जाय तो उसकी खाल खिंचवा लूँ। क्या तुम मुझे रुपया चरता गधा समझती हो ?”

—यों बड़बड़ाते-बड़बड़ाते वैद्य जी को दवाखाने जाने पर मालूम हुआ कि कई आदमी फीस और सवारी लेकर उन्हें बुलाने आए हैं। रुपए देखते ही वैद्य जी का गुस्सा कम हो गया। ‘अब मरीजों के घर जाना ही होगा’—सोचकर नरेन के लिए चार गोलियाँ भेजवा दीं, खुद बाहर चले गए।

इस खुशखबरी से नरेन आज कई रोज़ बाद खूब खुलकर हँसा। फिर माँ का तनिक इशारा पाते ही ईश्वर के घर की ओर दौड़ पड़ा। उसे सचमुच ही ईश्वर के घर का कुछ भी पता न था। ३००-४०० घरों का गाँव, फिर अछूतों के घर तो गाँव से तनिक हट कर, एकदम दक्खिन तरफ, खेतों के बीच बने थे। बुखार ही जैसे ईश्वर के घर की ओर लिए जा रहा था, पूछते-पूछते पहुँच गया।

तब ईश्वर तेल और नमक के साथ रोटियाँ खा रहा था। उसकी अम्माँ पूछ रही थी कि अब वह नरेन के घर क्यों

नहीं जाता ! कई रोज़ हो गए ! फिर समझाने लगी थी कि अब वह भूल कर भी ऐसी ग़लती नहीं करेगा ! नरेन ब्राह्मण का लड़का है, उसके बाप वैद्य भी हैं और दौलतमंद भी । उनके जोड़ का कोई दूसरा आदमी इस इलाक़े में नहीं है । नरेन की माँ ही इतनी अच्छी हैं कि उन्होंने उसे वहाँ जाने दिया । वरना उसके बाप देख पाते तो जीते ही निगल जाते ! उसकी किस्मत ऐसी नहीं कि वह नरेन का साथ कर सके !

ठीक उसी समय नरेन ईश्वर के आँगन में दाखिल हो गया । और इतना ही नहीं, उसकी थाली में से रोटी उठा कर खाने भी लगा । ईश्वर की अम्मा को काटो तो एक बूँद खून न गिरे ! तिसपर नरेन हँसकर पूछ भी बैठा—“मेरे खाने से तुम नाराज़ तो नहीं हो रहीं ?” ईश्वर ने अपनी अम्माँ को बतलाया कि—यही तो नरेन है ! वह उसे पहले ही से अच्छी तरह पहचानती थी । झटपट दरवाज़ा बंद कर नरेन को पूछ-पूछ कर और रोटियाँ खिलाने लगी । नरेन ने घर से कहीं ज्यादा खाकर पानी पी लिया । फिर ईश्वर का हाथ पकड़कर पूछने लगा—“मेरे घर कब आओगे ?” ईश्वर ने जल्दी से रूखा सा जबाब दे दिया—“अब तुम्हारे घर कभी नहीं जाऊँगा !”

अम्माँ बीच ही में डाटने लगी—“जायगा क्यों नहीं ? तेरे घर तेरे मालिक नरेन बाबू आए हैं और तू उनके घर जायगा ही नहीं ? तू ही बड़ा, नवाब का नाती है ?”

कानन

नरेन ने ईश्वर के कान में कहा—“मेरा कुछ भी कसूर नहीं था भाई ! मुझे माफ कर देना ।” फिर न जाने क्यों तो चुपचाप चला गया ! सुन कर ईश्वर की आँखें छलछला गईं, उसने दौड़ कर नरेन को पकड़ना चाहा पर न जाने क्यों उसके पैर एकदम बँध गए !

×

×

×

घर आने पर नरेन की आँखें लाल मालूम पड़ती थीं । सारी देह तवे की तरह तप रही थी । अब उसकी माँ अपनी बेवकूफी पर पछताने लगी कि नरेन को पहले ही से उतना बुखार था,— उसने नाहक उसे उतनी दूर—ईश्वर के घर जाने को कह दिया था ! पर अब तो भूल हो चुकी थी । अफसोस करती रह गई ।

कई दिन बीत गए, पर वैद्य जी महाराज लौटे नहीं । नरेन दो-तीन रोज़ तक खाट पर गुपचुप पड़ा रहा । माँ बहुत चिन्तित और उदास रहने लगी । जल्द-जल्द बाहर आदमी भेज-भेज कर पता लगाती कि अभी तक वैद्य जी लौटे या नहीं ! वैद्य जी पर उसे इतना गुस्सा लग रहा था कि यदि वह उसी छन वहाँ आ जाते तो उन्हें भीगी बिल्ली बना कर छोड़ती,— भीगी बिल्ली !

पर एकाएक नरेन खाट से उठ बैठा । खाने के लिए माँगने लगा । कभी ज़रा रोता और कभी खूब जोर-जोर से हँसता । कभी ईश्वर के घर जाने के लिए जिद्द करता । बेचारी नरेन

की माँ तो पगली हो रही थी,—महरी से कह दिया “जाओ, जैसे भी हो, समझा-बुझा कर ईश्वर को यहाँ ले आओ।”

नरेन खुशी से नाचने लगा। माँ भी हँस पड़ी। ठीक इसी समय वैद्य जो महाराज अंदर आए। नरेन की हालत देख कर अकचका गए, उसे अब तक ‘टाइफाइड’ हो चुका था। अपनी औरत, नरेन और ईश्वर के नाम ले-ले कर आकाश-पाताल एक करते हुए गरजने लगे। जो बोलने लगे—तो दवा तक देने की सुध जाती रही। नरेन खाट पर पड़ कर छटपट-छटपट करने लगा। माँ जोर-जोर से रोने लगी। महरी ने लौट कर धीरे से नरेन की अम्माँ को बतलाया कि ईश्वर वैद्य बाबू की आवाज़ सुन कर दरवाज़े पर से दौड़ कर भग गया।

नरेन एक बार फिर होश में आकर हँसा। तनिक करबट बदलते हुए भर्राई हुई आवाज़ में बोला—

“माँ, मुझे ईश्वर के घर का रास्ता मालूम हो गया है। मुझे ही वहाँ जाने दो। अब वह यहाँ नहीं आ सकता। हमेशा के लिए तुम्हारे घर से ईश्वर रूठ गया !”

मीना

पाँच साल की नन्हों मुन्नी ने माँ के आँचल का फटा छोर खींचते हुए कहा—“मैं भी लूँगी माँ, तोते बिकने आए हैं।”

“यह तो आते ही रहते हैं”, माँ ने कहा—“फिर लेना बेटी, आज पैसे नहीं हैं।”

“नहीं माँ जी”—मुन्नी ने माँ के बाल सँभालते हुए कहा—“किसी से पैसे उधार माँग लो, दो पैसे में ही तो एक तोता मिल जाता है।”

लड़की की ज़िद के सामने माँ की हार हुई, एक बहाना न चला। ओस से भीगे सुबह के गुलाब-सी गुलाबी नन्हों हथेली

कानन

पर दो पैसे रख दिए गए। तोते को बार-बार चूमती-पुच-कारती मुन्नी के मुँह में, उसी के दाँतों-सा साफ़ एक बोल था—“माँ, मैंने कैसा समझ लिया, फिर बहाना करोगी ?” माँ ने हँसी पी ली।

आसमान में बिना रोक-टोक पंख फैलाकर सूरज की उँचाई तक पहुँचने की होड़ करनेवाली चिड़िया लोहे के पिंजड़े में क्रैद की गई, उसने जोरदार जंजीर को पाँव की पैजनी समझा।

(२)

यों नारायणपुर में सैकड़ों बार हैजे के वार हुए थे, लेकिन उसका इस बार का जोर ज्यादा जोरदार हुआ। बस्ती के सभी बड़े आदमी लगभग एक ही बार कूच कर चुके थे। जेठ की दोपहर में, आम के पेड़ों की ठंढी घनी छाँह में स्यारों की मजलिस बैठती थी। सूरज के डूबने भर की देर होती, झाड़ी-भुरमुटों से निकल-निकल कर घुग्घू मँड़लाने लगते थे; चारों ओर गली-कूचों में। मुन्नी और उसकी माँ को रोती-तड़पती छोड़कर पंचौड़ी पाण्डेयजी इसी बार चल बसे थे। सुना है, उन्होंने अपनी जिन्दगी में बहुत रुपए कमाए थे, पर मुन्नी की पैदायश से पहले ही बच्चे की रुवाहिश से बनारस-इलाहाबाद जा-जाकर वहाँ के ज्योतिषियों और साधुओं में सब फूँक दिए थे। गंगा से लौटती बार आँचल के नीचे बच्चे छिपाये कुछ भिखारिनें उन्हें वहाँ रोज़ मिलतीं, पर साथ के पंडों के

मना करने पर कि वे रंडियों का पेशा करती हैं, पंडितजी उनकी तरफ़ धरम मिटने के डर से आँखें तक नहीं उठाते, उन्हें भी “महाजनो येन गतः स पन्थाः” मानना चाहिए। वह ज़मीन की तरफ़ नज़र कर सड़क पर दो-चार पैसे फेंक देते, आँखें बचाकर या तो वे पंडे ही, या सड़क पर खेलनेवाले लड़के उन्हें उठा लेते। वे स्त्रियाँ दूर से ही डरी हिरनियों की तरह आँखें चारों ओर फेंकती, तमाशे देखकर गर्म साँस छोड़ती, चुप रह जातीं। कहते हैं, मुन्नी जब पैदा हुई थी, तब फूटी थाली बजाई गई थी।

मुन्नी की माँ के पास, जब तक एक दो चाँदी के टूटे-फूटे गहने रहे, उसने किसी तरह मुन्नी को पोसा-पाला, बाद लाचार हो गई। उसकी जेठानी उसे फूटी आँखों देखना भी पसन्द न करतीं। अपने बच्चों को मुन्नी के साथ रहने-खेलने के लिए रोक कर दी थी, न मानने पर तमाचों की गिनती करने लगतीं, मुलायम कानों को मसल देतीं, और मुन्नी को भी उसी तरह देखतीं, जैसे बिल्ली चूहे को। आते ही जुदाई की बात निकाली थी, जेठजी पूरे जोरू के गुलाम थे। तुरत हिस्सा बँट गया था, मकान एक था, पर आँगन दो।

× . × × ×

मुन्नी को दस्तखत कर लेने भर की तालीम माँ ने घर पर ही दी थी, अब वह वहीं के एक छोटे से ‘गर्ल-स्कूल’ में पढ़ने जाती

है, बड़ी तेज़ है। घर लौटने पर कुछ देर खुद पढ़ती और बाज़-बाज़ दफ़े तोते को पढ़ाती। यों दिन खुशी-खुशी बीतते जाते। माँ ने तोते को 'मुन्नी' कहना जल्द सिखा दिया था। वह जब-जब अपने लुभावने स्वर से 'मुन्नी-मुन्नी' की रट लगाता, मुन्नी दौड़ती हुई उसके पिंजड़े के पास पहुँच जाती। दोनों की बोली एक दूसरे की प्रतिध्वनि-सी लगती थी। इस तरह दोनों को बोलते देख माँ की छाती भर आती, वह किसी अनजानी याद से सिहर उठती, सारी देह में पसोने की बूँदें झलमला आतीं।

(३)

“मुन्नी, अब कल खाने के लिए घर में एक दाना भी नहीं है”—रात ९ बजे आँगन में, सोते समय मा ने कहा—“मेरे पास जितने गहने थे, उन्हें बेंच-बेंचकर किसी तरह गुज़ारा किया, आज बब्बनबाबू के घर गई थी; उन्हें रसोई बनाने के लिए एक महाराज की सख्त ज़रूरत थी; उनकी औरत ने रहम कर मुझे ही रख लिया है। अब कल से मैं उन्हीं के घर खाना बनाने जाया करूँगी, तुम्हारे लिए यहाँ खाना रख जाऊँगी; तुम स्कूल से लौटकर खा लेना; और बाहर उनके बच्चों के साथ खेलने न जाना बेटी; भगवान् किसी तरह हम लोगों का बेड़ा पार कर देंगे।” इतना कहकर माँ ने सूनी आँखों से चाँद की तरफ़ देखा; और उसने ? उसने भी घने बादलों में मुँह छिपा लिया।

×

×

×

×

पहले दिन रसोई बनाकर माँ मुन्नी के लिए लाई और उसके स्कूल से लौटने की राह देखती रही। उसे डर था, “शायद मुन्नी स्कूल से आकर रोज़-रोज़ की आदत की वजह से ‘माँ’ कहकर पुकारेगी, और वह वहाँ न होगी, तो उसका खाना तो दूर, वह फूट-फूटकर रोने लगेगी! पुचकारनेवाला नदारद;—कौन? जे……, उफ़!”

बात सही निकली, आते ही दरवाज़े से पुकारा—“माँ”।

माँ का प्यार छलक पड़ा; दौड़कर बाहर गई; गोद में उठाकर मुन्नी के गोरे-गोरे गीले गालों को कई बार चूमा। अब उसे रात की बात याद आई, सिहरकर कोयल की तरह कूक उठी—“माँ, तुमने तो कहा था, कल से मैं खाना रख कर चली जाऊँगी, फिर अब तक कैसे ठहरी?”

“आज भर बैठ गई, कल से न रह सकूँगी बेटी”—माँ ने कहा। कुछ और कहना चाहती थी, पर आवाज़ रूँध गई, गला भर आया। मुन्नी ने अपलक आँखों से, माँ की भोंगी पलकें देखीं; धीरे से कहा—“अच्छा।” खाकर और तोते को खिलाकर मुन्नी फिर स्कूल चली गई। यही हाल रोज़ जारी रहा।

माँ की गैरहाज़िरी में मुन्नी का सहारा वही तोता था, वह उसी से बोलती-हँसती और खेलती थी। उसकी चाची उसकी हँसी सुन कर बड़बड़ाने लगती।

“चुड़ैल, जनमते ही बाप को खा लिया, माँ से भीख

कानन

मँगवाई, अब आजकल बेचारे इस तोते के पीछे पड़ी है, खा ले अब इसे भी, मेरे बच्चों का साथ छोड़ा, नहीं तो देखती न !”

रात में सोते समय मुन्नी माँ से ये बातें आँसू भर-भर कर कहती, और माँ चुपचाप सुन लेने की सीख देती थी ।

(४)

भले की कौन कहे, बुरे दिन भी हमेशा एक से नहीं गुजरते । आज स्कूल से लौट कर थकी-माँदी मुन्नी ने बाहर से हो पुकारा—“मीना” ; वह तोते को मीना कह कर पुकारती थी, यह उसका खुद का चुना नाम था । इधर रोज़-रोज़ स्कूल से लौट कर, वह माँ की जगह पर मीना को पुकारने की आदी हो गई थी, मीना भी उसकी आवाज़ पहचानते ही ‘मुन्नी-मुन्नी’ की रट लगाया करता था । पर वह आज न बोला । मुन्नी दौड़ी-दौड़ी पास गई, जोर-जोर से बार-बार पुकारा—“मीना-मीना”, पर वह चुप रहा । लगातार बहते आँसूओं से धुले लाल-लाल गोले गालों को पिंजड़े पर रख कर, हिचक कर फिर कहा—“मीना”, इस बार मुन्नी के आँसू की बूँदें मीना के सिर पर गिरीं, उसने एक बार ऊपर नज़र की; देखा, मुन्नी फूट-फूट कर रो रही थी । मीना ने फिर उधर न देखा, दो बूँद खून के आँसू के साथ उसके प्राण निकल गए ; जैसे वह अब तक मुन्नी से मिलने भर के लिए रुके थे ! और मुन्नी ? अब वह रोती न थी, पिंजड़े के पास ही जमीन पर पड़ी थी ।

रात दस बजे माँ आई; पुकारा, 'मुन्नी-मुन्नी'—जबाब न पाकर सन्न हो गई। देखा, दिन का खाना वैसा ही पड़ा था, मुन्नी अचेत थी और तोता पिंजड़े में मरा पड़ा हुआ। हिलाकर उठाया; मुन्नी उठ बैठी; सोकर उठी-सी, अलसाई-सी। गोद में गिरते हुए कहा—“माँ, आज मीना को क्या हो गया ?” माँ ने समझाते हुए कहा—“बेटी, इस दुनिया में तो एक दिन सभी मरते हैं, तुम्हें दूसरा तोता फिर खरीद दूँगी, लेकिन एक दिन तो इसी की तरह मैं भी मर जाऊँगी, और तुमसे फिर कभी नहीं मिल सकती.....”

“माँ, और मैं भी तो एक दिन इसी तरह मर जाऊँगी ?” मुन्नी ने बीच में ही बात काट कर कहा।

“छिः, यह सब तुम क्या कहने लगी, मैं तो बूढ़ी हुई, इसलिए वैसा कह रही हूँ, तुम अभी दुधमुँही बच्ची हो, तुम्हें धीरज से रहना चाहिए” तोते की तरफ़ गौर से निगाह करती माँ ने फिर कहा—“बिल्ली ने इसके पर नोच लिये थे और टोंट भी।”

माँ ने तोते को बाहर फेंककर, अपने और मुन्नी के हाथ मुँह धो-धुलाकर, प्यारभरे बैन बोल-बोल कर इस वक्त का लाया खाना मुन्नी को खिलाया, फिर साथ सो रही। छूने पर मुन्नी की देह गर्म मालूम हुई, कहा—“कल स्कूल न जाना बेटी” मुन्नी ने गोद में खूब चिपकते हुए कहा—“अच्छा माँजी।”

(५)

नव बजे दिन में साष्टांग खिलाकर अपने वक्त पर माँ फिर चली गई। मुन्नी बार-बार कहती 'तोता मर गया', स्लेट उठाकर मन बहलाने के लिए कुछ लिखती और मिटा देती, आखिर लिखा—“माँ मेरा तोता मर गया, एक दिन तुम भी मर जाओगी, मैं यहाँ अकेली कैसे रहूँगी ?” इस बार मेटने की सुध न रही। सूरज की तरफ देखा, इसकी बातों के गुस्से से जैसे वह जल रहा था !

स्लेट रखकर सोचने लगी.....“मेरा तोता मुझे छोड़कर चल बसा, उफ् ! माँ भी कितनी बेरहम है ? ज़रा एक बार फिर आँखें भरकर देखने भी न दिया ? फेंक दिया बेचारे को ! और कहती थी एक दिन वह भी मुझे हमेशा के लिए छोड़ देगी, तब मैं क्या करूँगी ? माना, स्कूल जाऊँगी, पर लौटने पर कहाँ खाऊँगी ? रात में, हाँ उतनी डरावनी रात में किसके साथ सोऊँगी ? चाची अपने घर मुझे नहीं आने देती; और चाचाजी, बाहर ही न-जाने कहाँ रहते हैं ? ना-ना, मैं यहाँ अकेली न रहूँगी।” वह फिर बेहोश हो गई, बार-बार चीखने और चिल्लाने लगी।

जब-जब क़ै करती, बेहोशी में भी रुँधे गले से चीखती-‘पानी, माँ, मीना,’ पर वहाँ पानी देनेवाला कौन था ?

माँ तो उस समय अन्तर की आग में अपनी साधों और अरमानों, तथा चूल्हे की आग में खाना पका रही होगी !

चाची ने कई बार कैं की आवाजें सुनीं, वहीं से बड़बड़ाने लगीं—“अभी चार दिनों की छोकरी, नक़ल बनाने में कितनी उस्ताद हो गई ! अरे अभी ही तो तुम्हारा बाप इसी तरह ‘ओय-ओय’ कर मरा है, तुम्हें इतराना किसने सिखा दिया है ? आह, तुम्हारी माँ ? काट देने लायक़ है, पीस देने लायक़ है ! खान-दान की लाज-शर्म सब खोकर गाँव में खाना पकाने की नौकरी करती है, और जब देखो तब ‘मुन्नी मुन्नी’ कहकर मुन्नी को आसमान पर चढ़ा दिया ! करो ‘ओय-ओय,’ आ रही हूँ, दौड़ी-दौड़ी, हो कैसी प्यारी ? वह भोले रमेश के बाप ही थे कि मेरे लाख मना करने पर भी तुम्हारे बाप के पास दौड़े गए थे ! मैं तुम्हारी शरारत ख़ूब पहचानती हूँ ।”

अब मुन्नी ने भी चाची की बातों से घबराकर जैसे हमेशा के लिए बोलना बन्द कर लिया था ।

मालकिन ने मुन्नी के लिए रेशमी झिलमिले कपड़े दिए थे, अपने वक्त़ पर, रात दस बजे, माँ “मुन्नी-मुन्नी” पुकारती आई, और फिर……………?

वेश्या

ज्योति के निकलते ही घर में अँधेरा छा गया, कुहराम मच गया। चालीस साल के खालिस वर बाबू आसमान की स्याह स्लेट पर तारों की गिनती सीखने लगे। बारात के और-और सभ्य लोग दोनों कुलों के कूलों को ढहाते हुए साम्यवाद-सरित की चौड़ाई चौगुनी कर चले। ज्योति की माँ ने भोंपू आवाज़ से हाथ-तोबा मचाना शुरू कर दिया। और उसके बाप सामने की सील पर लोढ़े से माथा कूटने का वाक्तायदा रिहर्सल करने लगे।

जब इतने पर भी बाज़-बाज़ व्यक्तियों को इस हंगामे का हाल मालूम न हो सका, वर बाबू के बेटे के एक गुस्ताख़ दोस्त ने झटपट सारा भेद खोल कर जैसे कम्बख़ती की क़ै कर दी।

बात यह थी कि हरीश की शादी सुयोग्य ज्योतिर्मयी वे साथ दो साल पहले से तय हो चुकी थी। उसके इम्तहान पास करते ही यह शुभ कार्य्य सम्पन्न होने को था। ज्योतिर्मयी ने हरीश की तसवीर पर अपनी तक्रदीर वार दी थी। इसी बीच हरीश की माँ का अचानक स्वर्गवास हो गया।

स्कूल में हरीश ने, आधुनिक आवश्यक प्रथा के अनुसार 'लव' और 'रोमांस' की अच्छी तालीम पाई थी। सिर्फ़ कोर्स की किताबों की सूखी लकड़ी से तेल निकालने की सीख नहीं ली थी, कभी जरूरत भी नहीं पड़ी थी। मास्टर्स की मेहरबानी ने उसकी कागज़ की किशती को भूल से भी मझधार का मुँह नहीं देखने दिया था। वह एक शिष्ट पिता की उच्छिष्ट सम्पत्ति का उत्तराधिकारी था। लेकिन इस बार यूनिवर्सिटी की सख्त दिल माशूक ने बड़ी बेवफ़ाई दिखलाई। हर साल सालाने इम्तहान में नम्बरों के खाने के खाने भर देनेवाला हरीश चार खाने चित्त होकर गिर पड़ा। उसका स्याह चेहरा शर्म से सुफेद हो गया।

हालाँकि मा की मौत और इम्तहान में फेल करने की तकलीफ़ कविवर पन्त जी की "भावी पत्नी के प्रति" कविता पढ़कर मज्जे से बर्दाश्त की जा सकती थी, पर हरीश इन बदतमीज अविताओं-कविताओं के चक्कर में पड़नेवाला फ़ालतू जीव न था और सच तो यह कि—

इश्क नाजुक-मिजाज है इतना
अल्लू का बोझ ढो नहीं सकता !

वह बीबी व्याहने को बुरी तरह कराह उठा। अच्छे-अच्छे महीनों को रात-रात भर नाम ले-ले कर पुकारने लगा। आखिर देखते ही देखते आँखों में गुलाबी धूल डालकर फागुन चला गया। चैत की चाँदनी जिस-तिस तरह छतरी लगाते-लगाते कटो। वैशाख में गधा भी भूखा नहीं रहता, उसे तो नाई-ब्राह्मणों की धूम की बहुत-बहुत उम्मीद थी, पर एक रात चोर की चाल चलकर चुपके से ज्योतिर्मयी के पिता हरीश के बाप के माथे में मंगल तिलक लगा गए। अपनी मनोनीत पतोहू के साथ शादी करने के लिए हरीश के पूज्यपाद पिताजी आँगन में आ धमके। बेटा बाप की बारात में कैसे शरीक होता, वह घर ही पर पंचों के बीच इस नीच पड्यंत्र का पता लगाता रह गया।

इधर अपनी आशा-लतिका पर असमय तुषारपात होते देख, और सखियों-सहेलियों ही क्यों—? अपने सगे भाई से भी किसी प्रकार का आश्वासन न पा ज्योति ऐन मौके पर घर से गायब हो गई। खोज-ढूँढ़ नहीं हुई, ऐसा नहीं,—पर गए हुए को कौन लौटा सकता है? जानबूझ कर खोए हुए को कौन पा सकता है?

खासतौर से जब यह शुभ समाचार हरीश के कानों तक पहुँचा, वह खुशी से बाँसों उछल पड़ा, इतना ही नहीं, झड़वेर

कानन

की झाड़ी की तरह फैले हुए अपने विशाल बालों में कंधा करते-करते बाप को ब्याह की मुबारकबादी भी सुना आया ।

जो हरीश उनके पास सीधा खड़ा होने में भी हया करता था,—अपनी ही करनी से आज उसे ऐसा शोख होते देख उसके बाप के होश दुरुस्त हो गए । उन्होंने पहले ही की भाँति खाँसा तो, पर तबतक हरीश ज्योति को खोज कर लौटा लाने के लिये घर छोड़ कर चल चुका था ।

(२)

छः महोने तक खासी तहजीब और सहूलियत सीख कर ज्योति शहर भर के अंधों की आँखों की ज्योति बनने को जैसे, बाहर आई । 'नीलम' नाम के नए ज़हर से न जाने कितनी सुहागिनों का हँसमुख चेहरा नीला पड़नेवाला था ! पन्ना को इस नए नाम की ईजाद के लिये आजाद रईसों ने बढ़-बढ़ कर इनाम दिए । अभी पन्ना भी पच्चीस-सत्ताईस साल से ज्यादा उम्र की न थी । इधर पाँच-सात ही साल में पचासों हजार रुपये इकट्ठे कर वह अपने को हजारों में एक साबित कर चुकी थी । अब उसी पन्ना की बगल में नीलम बन कर ज्योति जगमगाने लगी ।

अभी नीलम का घूँघट ही हटा था, उसे छूने की हिम्मत किसी ने न की थी । रात अपने बिस्तर पर से ही दो-दो बजे तक मजेदार गाने सुनती और रईसों की हाथापाई खिड़की से

छुप-छुप कर देखती हुई, वह पन्ना को पढ़ने की पूरी-पूरी कोशिशें कर रही थी। आपबीती बता चुकी थी, अब पन्ना के दिल की सुनने को बेकरार हो रही थी।

पन्ना ने जितने प्यार से उसकी देख-भाल करना शुरू किया था, वह उसकी मर्जी का गुलाम होती जाती थी। मुँह खोल कर कुछ भी नहीं कह पाती थी।

एक रोज़ पन्ना ने नीलम की छाती पर अपनी रुई सी हल्की हथेली रख, धीरे से उसके पतले-पतले होठों को चूम कर पूछा—

“अगर मैं मर्द होती तो…………?”

“तो क्या ? मैं…………?”

“सच नीलम ?”

“और क्या मैं झूठ कहती हूँ ?”

“छिः, फिर तूने मुझे पहले क्यों नहीं बताया ? मैं इसी बात को लेकर कई-कई रात से उधेड़बुन में पड़ी हुई थी ! कितने ही रईसों के तक्राजे पर तक्राजे आए, मैं बराबर बहाने कर टालती गई,…………”

“तुम उन रईसों को ही मर्द समझ बैठीं क्या ? मैं तो महज मर्द की बात बता रही थी !”—नीलम की त्योरियों में बल पड़ गए।

“कैसी पगली है !—वे मर्द नहीं तो क्या औरत हैं ?”—पन्ना मुसकिराई।

“औरत भी नहीं, मैं तो उन्हें हिंजड़ा कहती हूँ। देखती नहीं—किसी में मर्दानगी नज़र भी आती है ? ढोले-ढाले, पिलपिले, ज़रा कस कर खाँस दो तो धोती खिसक जाय !—आधी रात में दुनिया से आँखें चुरा, अपनी सोई लुगाई को धोका दे, चोर की तरह चौकसी से आनेवाले इन बाहियात बुजदिलों को मर्द कौन कहता है ?”

“नाराज़ न होना नीलम ! फिर तो तुम्हारा रोज़गार चल चुका ! कहीं इतनी कड़ाई से भी काम चलता है ?”—कहती हुई पन्ना हँसते-हँसते लोटनकबूतर हो गई ।

जैसे नीलम के ज़िस्म में गुलाब का काँटा चुभोया गया हो, उसे भीतर दर्द भी मिला और बाहर खुशबू भी । वह हँसी में भी शरीक हो गई और उसकी आँखें पन्ना के रेशमी आँचल में मोती भी बरसाने लगीं ।

पन्ना को नीलम के पहलू में पैठते देर न लगी । अभी उसे वह दिन नहीं भूला था, जब नीलम, नहीं-नहीं, ज्योति आधी-रात में उसके पास अपनी आस पूरी करने पहुँची थी । उसके हाथ हल्दी से पीले और गीले-गीले से थे । जगह-जगह दो-चार गहने घने अँधेरे में जुगुनू की तरह जगमग कर रहे थे । वह अपने उलझे-बिखरे बालों को जैसे-तैसे ढँके हुए थी । आतङ्क और शङ्का से उसके होंठ काँप रहे थे । और उसकी कजरारी आँखों से अकथ कहानी पानी बनकर बह रही थी ।

पन्ना सोच रही थी—उस रोज़ नीलम का कुदरती हुस्न देख कर किस तरह उसकी तबियत मचल गई थी ! मुँह में पानी भर आया था !! कैसे उसने अपने मतलबी दिल के दरिये में नीलम की जिन्दगी की डगमग डोलती नैया डुबाने की सोच ली थी ! किस तरह अपने जिगर की सारी मधुराई में डुबो कर प्यारी-प्यारी बोली बोली थी ! और कैसे छन भर में ही ज्योति को नीलम बना कर अपनी इस फ़न की पूरी उस्तादी दिखाई थी !

और नीलम सोच रही थी—आखिर इसी रोज़ के लिए तो उससे रोज़-रोज़ ख़ैरियत पूछी जाती थी ! पन्ना उससे दूध-पानी की तरह घुली-मिली थी ! उसकी राज़भरी आँखों को नाज़भरी कहा जाता था ! तीखी चितवन को इश्क के बंदों का क़ातिल करार दिया गया था ! हाँ-हाँ, इसी दिन के लिए तो दिन गिने जाते थे !

पन्ना सोच रही थी—उसने कितनी ही बार नीलम को तकिये में मुँह छुपा कर रोते देखा है । सपने में ज़ोर से 'अम्मा, भैया' पुकारते सुना है । उसने अक्सर मार्क किया है, नीलम को यह शाही खाना, स्प्रिगदार पलंग पर सोना, उस्तादों से गाना सीखना नहीं भाता । वह हमेशा अनमनी-सी रहती है । चिक के अंदर से सड़क की तरफ़ यों डूब कर देखती रहती है,—जैसे किसी को बाट जोह रही हो !

और नीलम सोच रही थी—वह जिस वक्त अपने घर से

बाहर निकलो, उसी वक्त उसके लिए घर का दरवाजा बंद हो चुका था। माँ को स्नेह हो गया था; बाप को हैजा। भाई का तो शायद जनाजा भी निकल चुका था। अब वह नाहक किसकी उम्मीद में पड़ी है ! पन्ना को छोड़ कर अब और उसका अपना है कौन इस हरसाल जनसंख्या बढ़ानेवाली लंबी-चौड़ी दुनिया में ? सच है, उसे झिझक मालूम पड़ती है ऐसा बेशर्मी का धंधा उठाते, लेकिन यह सब तो उसे घर छोड़ने से पहले ही भली-भाति सोच लेना था ! उसे खौफ था, जैसी हालत में वह वहाँ से भगी थी, उसका कोई सगा-संबन्धी भी उसे अपने घर में ठौर नहीं दे सकता था ! तो फिर जिसने उसे न सिर्फ ठौर दिया, बल्कि अपना सिरमौर बनाकर रक्खा; साथ खिलाया, साथ सुलाया; प्यार की पलकों पर झूला झुलाया; दिल का दुख-दर्द दूर करने को आशिक-माशूक के बेहतरीन गाने सिखलाए; उसका कहा करने में वह सकुचाती क्यों है ? रोती क्यों है ? क्यों उसके कलेजे में जलन मालूम होती है ?

पन्ना सोच रही थी—एक रोज इसी किस्म की ज़िन्दगी के बोझ से दब कर उसने भी एक चुड़ैल की बाँहों का सहारा लिया था। वह उम्र की उठान का अट्टारहवाँ साल पार कर चुकी थी, पर गरीबी के सबब उसके ब्याह का कोई बन्दोबस्त नहीं हो सका था। उसके बाप शराब-गाँजे की ज्वाला में जल कर खाक हो गए थे। पड़ोस के रिश्ते के एक चाचा साहब ने पहले-

पहल उसका कमसिनी का मह-मह महकता मुखड़ा चूमा था, हौले-हौले हिलते, मीठे-मीठे होंठ जूठे किए थे। बाद उस पर उनके लाड़ले की डिठौने की डीठ पड़ी, और वह हर तरह बेकार कर दी गई थी। फिर सितम पर सितम ! उसे कलकत्ते ले जाकर साथ रखने को सच्ची साध दरसाई गई थी। डूबते को तिनके का सहारा, वह तो अपनी कुर्बानी के लिए लाचार हो चुकी थी ही। पर कौन आग से खेलता भला ? उसे न कलकत्ते ले जाया गया, न बनारस, वह बीच ही में छोड़ दी गई थी। एक मेहरवान मुसाफिर ने रास्ते भर भरसक फायदा उठाते हुए उसे इस शहर का आसमान दिखलाने की तकलीफ की थी। तब से आज तक उसकी नाजुक छाती पर इश्क की ऊँची-ऊँची चट्टानें लादी जा रही हैं। जब वह कुढ़ कर कराहती है, कद्राँ उसके दर्दिले गले पर बाह-बाह करते हैं !

और नीलम सोच रही थी—जभी पन्ना का दुलार दिन-दूना रात-चौगुना बढ़ने लगा था, उसे समझना था, यह पन्ना की मौन, किन्तु प्रबल प्रेरणा है। वह खुल कर कुछ भी कहना नहीं चाहती। सिर्फ अपने उच्छ्वसित प्यार की हज़ार-हज़ार बक्तियाँ जला कर उसका कर्त्तव्य-पथ दिखला दे रही है।

तो क्या वह साफ़-साफ़ कह दे कि उसे पन्ना की ख्वाहिश से कोई परहेज नहीं, कोई एतराज नहीं, उसे अब सब कुछ स्वीकार है ! आखिर बकरे की माँ कब तक खैर मनाएगी ? जब

कानन

वह पन्ना का नमक खा रही है, उसके साए में सुख से (हाँ, और क्या ?) सो रही है, तो उसे अपना कर्ज भी अदा करना चाहिए ही ! यह कहने लायक तो उसका मुँह रहा नहीं कि वह ऐसी गंदगी को टोकरी सर पर उठाना नहीं चाहती, क्योंकि वह बूढ़े वर से ब्याहे जाने की बात पन्ना से पहले ही बता चुकी है ! अगर उसे सीता-सावित्री का जीवन बिताना पसंद था, तब तो इस रौरव नरक से उस बूढ़े का घर जरूर ही ज्यादा अच्छा था । वह चाहती, उस बूढ़े से अपनी मनःकामना का पूरा पता बता सकती थी । बूढ़ा जैसा धनी था, उसे यहाँ से किसी भी भाँति कम आराम नहीं मिल सकता था ।

और फिर वह बूढ़ा भी कितना था ?—चालीस के भीतर ही भीतर तो उम्र थी ! क्या उसका सुहाग बीस साल भी नहीं चल सकता था ?—नहीं-नहीं, ज्यादा चलता, आखिर वह भी तो उसके लिए सती-साध्वी कुलरमणियों की तरह व्रत-त्योहार करती, उपवास रहती, नित्य प्रातःकाल स्नान कर देवी-देवताओं को अर्घ्य देती, पूजा करती,—क्या इसका फल उसे कुछ भी नहीं मिलता ?

बेचारा बूढ़ा उसकी हर रोज़ यह ऐसी हरकतें देख-देख कर आजिज़ी भरी आवाज़ से कहता—“ठंड लग जायगी,—कितने सवेरे नहाती हो भला ! यों ही दिल-ही-दिल परमात्मा का स्मरण करते रहने से भी उतना ही धर्म होता है पगली !”

इस पर बनावटी गुस्से से वह भी फटकार बतलाती—

“आप कहते क्या हैं ? रहन-सहन भी तो एक चीज़ है, मन ही मन धर्म का ध्यान भर धरते रहने से कहीं कुछ आता-जाता है ? सुना है खयाली पुलाव पकाते रहने से कभी किसी का पेट भरते ?”

इधर यह दोनों बूढ़ा-बूढ़ी (हाँ, हाँ, बूढ़ी ही तो !) इस तरह उलझे रहते, उधर नौजवान लड़का मीठी जुबान से पूछता—

“मा ! आज मेरा फाउन्टेनपेन नहीं मिल रहा है, तू ने देखा है कहीं ?”

और वह बिहँसकर जवाब देती—“हाँ बबुआ ! आखिर नहीं क्यों देखती ? कोट पहनते वक्त गिरा दिया होगा तूने, मैंने उठा कर अपनी आलमारी में रामायण पर रख दिया है, जा देख तो, वहीं पर मिल जायगा, मैं ज़रा नहाने जा रही हूँ !”

बूढ़ा अपनी ऐसी अच्छी पत्नी को एकटक निहारता रह जाता, और वह मधुर-मधुर मंजीर बजाती, मुड़-मुड़ कर मुसकिराती, कुँए को तरफ़ चल देती !—कैसी अच्छी होती वह जिन्दगी ?

पन्ना सोच रही थी—तो क्या वह नीलम को भी उसी खाँई में धकेल दे ! उसके जिस्म में खून की जगह पानी बह रहा है।—अब वह पहले की पद्मा देवी नहीं, आज की पन्ना बाई है।—उसे तो आज ही की परिस्थिति पर गौर फरमाना ठीक होगा। लेकिन नहीं, ऐसा करते उसे बार-बार रहम की क्यों

सूझती है ? वह नीलम की आँखों में पानी देख खुद क्यों पानी-पानी हुई जाती है ?

उस रोज़ दुपहर में, उसे अच्छी तरह याद है, कैसी शिदत को गर्मी पड़ रही थी ! धूल भूसे की आग बन कर आँधी में उड़ रही थी ! सब जहीं के तहीं ऊँघ रहे थे, आराम कर रहे थे, उसकी मैना भी बाँस के भिगोए हुए पिंजड़े में सोई थी ।—और उसी समय नीलम तिमंजिले की छत पर खड़ी झख मार रही थी, रोते-रोते उसकी आँखें सुख हो गई थीं, पीठ पर झोंके खाते केश जैसे हवा से बातें कर रहे थे । लगता था—अगर पन्ना उसी समय उसकी खोज न करती, लू लगने के डर से किवाड़ खोल कर बाहर निकलते झिझकती, तो बस सारा का सारा मामला ख़त्म हो चुका होता । ज़रूर ही नीलम तिमंजिले से कूद कर जान दे देती, और शायद इतनी गम्भीरता से, इस तरह चुपपी साधे, कि उसके मुँह से चीख तक नहीं निकलती,—नहीं निकलती ! लेकिन जब उस दिन दया कर पन्ना ने उसे कलेजे से लगाया, बँधती बोली से हिचकते-हिचकते बताया कि वह कभी भी नीलम को बेहयाई का पेशा अख्तियार करने के लिए मजबूर न करेगी, यह सब उसीकी खुशी पर है, तो फिर क्यों आज उसे उसी नारकीय रोजगार की याद दिला कर, हिला-मिला कर, मीठा ज़हर पिला कर मारने आई थी वह ?

फिर वह अब भी साफ-साफ बतला दे कि—यह तो महज मजाक था ! वह रईसों की कड़ी बातें बर्दाश्त करते हुए भी बराबर उन्हें बरगलाएगी, धोका देगी । नीलम चाहे, तो वह उसे नरक तक (एक अभागिन हिन्दू वेश्या स्वर्ग जाने की कल्पना भी कैसे कर सकती है ?) साथ देते भी कभी आनाकानी नहीं करेगी ।

कोई कट कर रह जायगा—आखिर नीलम है किस तरवार की धार, जो उसे गले लगाए बगैर ही दूर-दूर चमकने के लिए छोड़ दिया जाय ?

कोई सट कर शक करेगा—आखिर हैं क्या नीलम में जवाहरात जड़े, जो उसकी जगह पन्ना अपना दामन फैलाए फिरती है ?

लेकिन उसकी कुछ भी परवा नहीं । वह नाहक हर शरूस से जवाब-सवाल नहीं करती फिरेगी । किसी से कह देगी, अभी कम से कम एक साल बाद । और किसी के सामने ऊँची से ऊँची फरमाइशें पेश करेगी—इतनी ऊँची कि वह घर-द्वार बेच कर भी उन्हें पूरी न कर पाए, कर्ज ले कर कभी भी अदा न कर सके ।

लेकिन इसके मानी यह नहीं कि वह उन धनी-मानी व्यक्तियों को एक बार ही नाराज कर देगी । नहीं-नहीं, ऐसा करने से पेट कैसे भरेगा ? किस तरह नीलम को खुश रख सकेगी ?

—उस नीलम को, जिसे देख उसके पापी प्राण जैसे हरद्वार की गंगा में गोते लगाने लगते हैं ! उस नीलम को, जिसे बचाती हुई वह इस नापाक पेशे पर भी आज नाज़ करती नज़र आती है ! उस नीलम को, जिसे आँचल में छुपा कर वह अपना खोया हुआ सतीत्व पुनः प्राप्त करती जैसी प्रसन्न हो जाती है ! उस नीलम को, जिसमें वह अपने पुनीत अतीत के सुनहले सपने देखती, वर्तमान की कीमत आँकती और भविष्य की आवश्यकता का अनुभव करती है !

हाँ, हाँ, उसके लिए वह अपने को हर तरह कुर्बान करेगी । नीलम के प्याले में अपने प्राणों की तीखी शराब ढाल-ढाल कर रईसों को मदहोश बनाएगी । वह पहले से ज्यादा जोर से हँसेगी । पहले से अधिक मधुर सुर से गाएगी । पहले से बहुत ज्यादा सस्ती होकर नीलम की मँहगी दोस्तो निभाएगी । कोई क्यों निराश होगा ? कोई क्यों उदास होगा ?

अगर उसे इतना कुछ भी करना न आएगा तो वह पिछले पाँच-सात साल से क्यों कर वैसी कड़ी 'तपस्या' करती आ रही है ?

फिर सबसे सुगम राह तो यह, कि वह अब कभी उसे अपने साथ बाहर बैठने ही नहीं देगी !

और नीलम सोच रही थी—लेकिन अब तो वह यहाँ भूत की भँति प्रसिद्ध हो चुकी है, जो कोई भी कोठे पर आता है, उसीके नाम की माला जपता हुआ, जो कोई भी पन्ना को बेशुमार

पुरस्कार देने लगता है, उसीके प्यासे प्राण नीलम की सजल पलकों में तिरने लगते हैं ।

अच्छा होता, वह फिर भग जाती ।—लेकिन इसबार भगकर जाएगी कहाँ ?

तो फिर ? फिर वह क्या करे ? कोठे से कूद कर जान दे दे ? या समाज की छाती पर मूँग दलने, धर्म के ढोंगी मुँह पर कस-कस कर चाँटे चलाने, बूढ़े ईश्वर की गंज खोपड़ी पर रोड़े-पत्थर बरसाने के लिए कमर कस ले ?

जान दे देने से सुख मिलेगा ? खुशी होगी ? हर्गिज नहीं । एक ही की आशा पर पानी फेर कर तो उसे इस तरह घुलना पड़ रहा है, अब के इस बेचारी बेकुसूर पन्ना को बे वजह मामले-मुकद्दमे में घसीटने से उसका क्या भला होगा भला ?

सच है, चिराग को बुझना ही पड़ेगा । वह बुझे, बुझे, लेकिन जल्द नहीं, जल-जल कर बुझे ।

अच्छा हो, वह अब एक की नेकनीयती के कमरे में धुआँ न फैलावे ! नाहक अनाप-शनाप न बककर ओछों के से छिछोरे-पन को छुपा ले । इसीमें उसकी भलाई है ; कृतज्ञता का ऐसा ही तक्राजा है ! समझ ले ; नासमझ दिल को समझा ले, कि आह ! अब तो वह वेदया है !”

उसने धीरे-धीरे सिर उठाकर अधमुँदे नयनों से पन्ना को

कानन

निहारा । नज़र मिल गई । तब वह नीलम ही के पाँवों के नीचे अपने प्राणों के पाँवड़े बिछाए हुए थी ।

पन्ना के रोम-रोम पुलकित हो गए । नीलम एकदम गन-गना गई ।

दोनों एक ही दफ़ा एक ही सुर से बज उठी—

“मुझे तुम्हारी मर्जी मंजूर है !”

पन्ना ने अपने आखिरी फैसले को दिल ही दिल दुहराया—

“नीलम मेरे जीते जी वेश्या नहीं हो सकती !”

और नीलम अपने अन्तिम निर्णय पर न जाने कैसी बिजली की कौंध जैसी तोखी-तिरछी हँसी हसी,—अब मैं वेश्या हूँ !”



पैसे की पहिचान

क्यों तो ताड़ के पेड़ की डालें खड़खड़ाईं ?—ओ: ! एक गीध
वैठा है ! खेत के कामों से थका-माँदा लौटा हूँ। लेट जाने की
तबियत हो रही है। जड़ के पास पेड़ कुछ टेढ़ा-मेढ़ा झुका-झुका
है। ज़रा इसीका सहारा ले रहा हूँ। कुछ देर नींद आ जाती
तो अच्छा होता। करौंदे के फूलों की खुशबू से लदी हवा भी
क्या हाथी की चाल चल रही है !

ओ: ! केशव बाबू इधर आ रहे हैं। छड़ी और चश्मा
चमकाते, बूट मचमचाते। मुझे देखते ही बड़बड़ाना शुरू कर
देंगे।—कलिदास-शेक्सपियर; हिटलर-मुसोलिनो; गाँधी-जवाहर

लाल। मुझे कहना पड़ेगा,—शेक्सपियर सिंह था, कालिदास बकरी। ऋषि-महर्षि राक्षस थे, हिटलर-मुसोलिनी देवता। राम-कृष्ण कल्पना हैं, गाँधी-जवाहर सत्य। सच कहूँ तो तिलचटे की तरह मेरा दिमाग़ ही चाट जायँ !

मान लीजिए, यह प्रसङ्ग न उठा, तो फिर दूसरा उठाएँगे। मुझे हिन्दू यूनिवर्सिटी छोड़े चार वर्ष बीत गए। और नहीं तो वहीं का वर्णन करना शुरू कर देंगे—“इधर कई बड़ी-बड़ी इमारतें बनी हैं, झील-मन्दिर वगैरह-वगैरह बन रहे हैं।”

मैं जानता हूँ, वहाँ इमारतों की गिनती बराबर बढ़ती रहती है। लड़के भी कृष्णपक्ष के आकाश में तारों की तरह बढ़ते जाते हैं। इसी भ्रांति कितने ही साल गुज़र चुके, कई हजार वहाँ से शिक्षित हो-हो कर निकले भी। लेकिन मैं तो नहीं जानता, आजतक एक भी वैसा व्यक्ति निकला या नहीं, जिसे उदाहरण में रखकर हमारा देश गर्व करता—वह हिन्दू विश्वविद्यालय का स्नातक है !

फिर इमारतें बनें या बिगड़ें—इनसे किसीका क्या बनता बिगड़ता है !

समझ लीजिए, इस प्रसंग में रंग आ गया। फिर तो बनारस चलने के तकाज़े शुरू होंगे। क्योंकि इधर जितनी बार भी मिले हैं, वहाँ से एक दफ़ा घूम आने को उन्होंने मुझे ललकारा है। खास तौर से वहाँ के समाज में अपना आसमान-बराबर ऊँचा

पैसे की पहचान

आसन-सम्मान दिखलाने को वह बहुत व्याकुल हैं। खैर। आज कहा तो कसम दे दूँगा ले चलने को, देखूँ, डेढ़ ही सौ रुपए मासिक खर्चकर कैसे बिड़ला-होस्टेल से दालमंडी तक प्रेम का सुनहला जाल डाल रक्खा है उन्होंने ?

एक हफ्ते में धान का अभी कुछ बिगड़नेवाला नहीं। खेतों में काफ़ी पानी है। लौटने पर 'कटनी' शुरू होगी।

(२)

हड़-हड़-हड़। रेल दौड़ी। टुन-टुन-टुन। ताँगे की घंटी बजी। मैं अब केशव बाबू के साथ हिन्दूयूनिवर्सिटी आ गया हूँ। चार वर्षों में जो बहुतेरे परिवर्तन हुए हैं, उन्हें चार ही दिनों में घूम-घूम कर देख चुका हूँ।

विश्वास करें, विद्यापीठ के पास एक भारत-माता-मन्दिर देख, मुझे नवीन कल्पना के उस अति नवीन स्वरूप से जितनी प्रसन्नता हुई, उसका शतांश भी यहाँ की इमारतें, झील, बाग़ वगैरह देख कर नहीं।

यहाँ मेरे गाँव के एक व्यक्ति और हैं—ब्रह्मदेव। थर्ड इयर में पढ़ते हैं। आज शाम को उन्होंने के साथ ज़रा सङ्कट-मोचन के दर्शनार्थ निकला हूँ।

मेरे वक्त के लड़के अब प्रायः नहीं हैं। ब्रह्मदेव से पूछने पर दो-चार का पता लगा है। यह लो, रास्ते में नन्दकिशोर दिखे। यह मेरे वक्त भी सेकेंड या थर्ड इयर में थे। शुरू ही से

कुछ-कुछ कविताएँ लिखने की लत है ब्रह्मदेव को। नन्दकिशोर उनमें आँसू और उच्छ्वास देख कर उछल पड़ते थे वह—

Excellent ! Next to Shelley !!

मजेदार होगा, ज़रा इनसे मिल लेता हूँ। यह कह रहे हैं—

“ओ: ! आप ? यहाँ ? इस वक्त ? यों ? अकेले ?”

हँसिए नहीं, यह हमेशा इसी तर्ज से बोलते हैं। मेरा यथोचित उत्तर सुनकर, देखिए, क्या ‘सीरियस’ हो गये हैं !—

“ब्रह्मदेव जी, आपकी इधर की कविताएँ मैंने देखी हैं। अब आप भी छि: छि:..... ! पहले आप में क्या गजब की प्रतिभा थी !”

मैं ब्रह्मदेव के इधर के पद्यों में पहले की अपेक्षा कुछ भी कमो नहीं पाता। हाँ, उनमें पहले साम्यवाद के पेटेंट टर्म्स-हँसिया, हथौड़ा बगैरह रहते थे, अब छायावादियों की तन्त्री के तार रहते हैं।

लेकिन तब यह उन्हें राष्ट्रकवि से विश्वकवि होने तक की भविष्यवाणी करते थे और अब, जब सचमुच ही विश्व-वीणा की भंकार, विश्व-प्राणी की मूकवाणी, विश्व-शान्ति की कल्याणी वेदना को अपनी कविताओं में उतारने की साधना उन्होंने की है, यह शिशिर को महाराष्ट्रकवि मानने लगे हैं। खास तौर से इसलिए कि शिशिर का कहना है, छायावादी रवीन्द्रनाथ का जूठन उठाते हैं। लेकिन स्वयं शिशिर नज़रूल की साहित्यिक

मुर्गी के अंडे हैं, कहते शर्म लगती है। खैर। हिन्दी में सब जगह ऐसी ही खोपड़ियाँ देखने को मिलती हैं। कोई किसीको अच्छा नहीं कह सकता।

इनसे फिर मिलने को कह कर दो-चार डग आगे बढ़ गया हूँ। मेरा पुराना दोस्त रेवाशङ्कर साइकिल से आता दिखता है। उसे दोस्त नहीं, साथी कहना अच्छा होगा। फर्स्ट इयर में आया था, गरीब, फटेहाल, फ्रीशिप का मोहताज। आज हिन्दू-यूनिवर्सिटी की प्राइवेट संस्कृति के अनुसार सूट पहने, हैट लगाए है। ब्रह्मदेव का कहना है—फिफ्थ इयर साइंस में पहुँच गया है। उस वक्त दिन भर में तीन बार मुझे नमस्कार करता था। अब, सुन रहा हूँ, निराशावादी कह कर मज्जाक उड़ाता है। उम्मीद कर रहा था, मुझे देखते ही साइकिल से उतर कर पहले की तरह लिपटते हुए पॉकेट में हाथ डाल देगा। लेकिन अफ-सोस ! वह तो मुँह फिराए आगे बढ़ गया। ब्रह्मदेव ढाढ़स दे रहे हैं, शायद उसने मुझे पहचाना नहीं !

इस बार कुँवर नक्षत्राय दिखे हैं। त्रिवली की तरह गर्दन, पीठ और कमर तीनों जगहों से बल खाते हुए, नई उम्र की बलैयाँ लेते हुए। जिस साल मैं कॉलेज छोड़ रहा था, एकाएक एक दिन 'तुम' सम्बोधन के साथ इन्होंने पत्र लिखा। पच्चीस रुपयों की फरमाइश थी। किस तरह खादी के साफ कुर्ते के भीतर मैं अपनी गरीबी छिपाए रहता था, बतलाना अनावश्यक

होगा। मैंने घर पर पिता जी को कई मूठी ज़रूरतें बतला कर इनके लिए रुपए मँगवा दिए। हफ्ते-दो-हफ्ते के लिए इनकी माँग थी, अब तक चार वर्ष से ज्यादा हो चुकने पर भी, इन्होंने वापस देने की ज़रूरत नहीं समझी। बीच-बीच में जब भी मैंने ब्रह्मदेव से पुछवाया है, इन्होंने “इटैलिक लेटर्स” में मेरे घर का पता नोट कर लिया है।

मुझ से पूछ रहे हैं—“अभी रहिएगा न”? खौफ होगा, बीच सड़क पर चार चाँटे जड़ न दूँ! लेकिन मुर्दे पर तलवार चलाने को आप भला कहेंगे?

वह विन्ध्याचल है। कितना मानता था मैं उसे! वह भी कहा करता था—जिन्दगी भर मैं आपको भूलनेवाला नहीं। खुद तरह-तरह को तकलीफें सह कर भी मैं उसके चेहरे पर शिकन देखना नहीं पसंद करता था। लेकिन वह तो ‘गुड इवनिंग’ कह कर चुपचाप चला गया।

सोचता हूँ, उस सत्य-संस्कृति के शिक्षार्थी की बात पूरी करने के लिए मेरी जिन्दगी चार ही वर्षों में क्यों न खतम हो गई? क्यों मैं केशव की बात पर वेदना और समवेदना से सर्वथा शून्य इस स्वर्ग-भूमि में आया? या यह भी अच्छा ही हुआ, कौन जाने—शायद मरने पर नरक जाना पड़े, इसलिए एक बार जीते ही जीते स्वर्ग-यात्रा कर ली। लेकिन अब सुबह ही स्वर्ग से लौट जाना ठीक होगा, मर्त्य-लोकवासियों को यहाँ का हाल

सुनाने के लिए। कैसा सुन्दर नन्दन-वन है यहाँ ! आकाश गङ्गा की रजत-निर्मल धार में धुल कर.....हटाइए, अब वहीं कहूँगा। ब्रह्मदेव मेरी प्रतिष्ठाप्रियता की परेशानी देख-देख कर हँसते हैं। मैं सफ़ाई दे रहा हूँ—भाई ! यह तो मानव-प्रकृति है, प्रतिष्ठा-लोलुपता नहीं। जिनके साथ मैंने साल-दो-साल बिताए, खुद भाँति-भाँति के कष्ट सह कर शक्ति भर पैसों से मदद दी, रात-रात भर जगकर पिछड़े कोर्सकी किताबें पढ़ाई, आज चार साल बाद मिलने पर क्या मैं उनसे इतनी भी आशा नहीं रखता कि छन भर रुक कर कम से कम वे दो-एक शब्द बोलते !

ब्रह्मदेव का कहना ठीक है—वह तो पैसों की पहचान थी। इसमें दुख करना ग़लत है, वह मुझे नहीं, मेरे पैसों को पहचानते थे !

भाई, आप नाराज़ न हों। मैं ग़रूर से सिक्कों-रुपयों की बात नहीं बता रहा, महज़ पैसों की। हालाँकि यह भी मेरी कमज़ोरी है। लेकिन ऐसी कमज़ोरी का शिकार कौन हाड़-चाम का पुतला नहीं ? आपके माँ-बाप भी तो आप से कुछ उम्मीद रखते हैं ! फिर आप मानवता की ऊँची पहचान के लिए ही ऊँची शिक्षा प्राप्त करते हैं। अगर आप में वह नहीं तो ऐसी निकम्मी बुनियाद पर क़ायम रहने वाले आप किसके काम आएँगे ?

अब सङ्कटमोचन के फाटक पर पहुँच चुका हूँ। 'जय सिया-राम' की दूकान से पान खाकर मन्दिर की ओर बढ़ रहा हूँ।

फाटक के भीतर कतार बाँधे भिखमंगे खड़े हैं। आज मंगलवार है, दर्शनार्थियों की भीड़ उमड़ो पड़ती है।

यूनिवर्सिटी के अधिकांश लड़के इम्तहान के दिनों में सङ्कट-मोचन को लड्डू चढ़ाने आते हैं। लेकिन मैं जुलाई से एप्रिल तक बराबर यहाँ आता था। कुछ भक्ति ही के कारण नहीं, गोस्वामी तुलसीदास जी की भूमि होने से न जाने क्यों यहाँ आने पर मुझे अपूर्व शान्ति मिलती थी !

मैं बढ़ता चला जा रहा हूँ। आगे मन्दिर की सीढ़ियाँ हैं। लेकिन यह क्या ? यह कौन-सी लड़की अभी एकाएक रास्ते को घेर कर खुशी से नाचने लगी है ?—

“बहुत रोज़ बाद आए बाबू जी ! आपने बाल कटवा दिए हैं, और कुछ सयाने भी हो गए हैं, तो क्या मैं पहचानती ही नहीं ? आप हर शनीचर और मंगल को मुझे एक-एक पैसा देते थे ना ? अब मैं याँ छोड़ने की नहीं ! हूँ-हूँ ! निकालिए जल्द एक पैसा !”

पुरानी स्मृति जैसे जमुहाई लेकर जग गई है। विश्वास करें, तब यह लड़की, मुश्किल से छः-सात साल की थी। और तो क्या ? तब मैं इसे देख कर इस नतीजे पर भी नहीं पहुँच सका था कि यह लड़का नहीं, लड़की है। पर इसे इतने वर्षों बाद भी मुझे पहचानते देर न लगी। आज छात्र जीवन के वह केश मेरे माथे पर नहीं झूल रहे। उसने उन पर हाथ फेरते हुए कभी

पैसे की पहचान

नहीं कहा था—क्या कमाल के बाल हैं आपके ! इधर देहात की शुद्ध आबहवा में रहने के कारण सचमुच ही तब से कुछ ज्यादा लम्बा-चौड़ा भी हो गया हूँ ! इसे मेरा नाम तक नहीं मालूम । कितनी दूर से मैं आया हूँ, यह इसकी कल्पना से परे की बात है । फिर भी इसने मुझे देखते ही पहचान लिया ।

जैसे यह पिछले चार-वर्षों के हर शनीचर और मंगल को लोगों की भीड़ में से मुझे अलग निकलने के लिए मूक-प्रार्थना करती रही हो; जैसे यह पिछले सभी शनीचर और मंगल के पैसों को इस बार के एक ही पैसे के भीतर देख रही हो; इसके रोम-रोम प्रसन्न हो रहे हैं । काला चेहरा हँसी से बिजली जैसा चमक उठा है । अछूत होने के कारण इतनी हिम्मत नहीं कि बहुत पास खड़ी हो, फिर भी जैसे मेरी डबडबाई आँखों में तिर रही हो, इतनी खुश है यह !

ब्रह्मदेव इसे एकटक देख रहे हैं । मैं मन-ही-मन सोच रहा हूँ—क्या यह भी मुझे नहीं, मेरे पैसे ही को पहचानती है ?

रोदन का राग

उस बार मोरपंखी साड़ी न ले जाने के कारण मामी नाराज हो गई थीं। बाबू जी के बार-बार डराने पर भी मैं मामा के घर जाने के लिए राजी न हो रहा था। मेरे गाँव के चारों तरफ, दो-दो, चार-चार कोस के फासले पर हैजा ज़ोरों पर था। जब देखा, वह मुझे भेजे बिना दम न लेंगे, मैंने असली हाल बतला दिया। सुन कर हँसे। फिर दो मोरपंखी साड़ियाँ, चार पक्के रंग के लाल-लाल झूले, दोनों हाथों के लिए ५० मोटी-मोटी चूड़ियाँ, रुपए के बराबर-बराबर माथे की रंगीन टिकुलियाँ, मोटे सिन्दूर की चौकोर डिबिया, रुपए में आधमन बिकनेवाली गुड़ की बड़ी-बड़ी मिठाइयाँ वगैरह-वगैरह मामी की खुशी

जीतने का सारा सामान खरीद कर मुझे दूसरे ही रोज़ शुभ मुहूर्त में रवाना कर दिया।

वैशाख की दोपहरी। प्यास से बेचैन। हाँफता हुआ घोड़े की लगाम झकझोरता जाता था। सामान के हल्केपन से खुश मेरा आदमी—मुंशी मस्त चाल चल रहा था। हुसेनगंज में घोड़े को सत्तू पिला देने और खुद खा लेने के बाद तो उसके पैरों में पर लग गए थे। सिर्फ़ मैं पसीने से तर, धूल-भरी आँखों से आगे की उबड़-खाबड़ पथरीली राह देखता, आह भरता जाता था। आखिर शाम होते-होते मामा के गाँव में पाँव रखने का सौभाग्य हुआ। लेकिन अफ़सोस ! तब तक सारा गुड़ गोबर हो चुका था। मेरी मामी मामा के साथ सुबह ही मयके चली गई थीं, उनके भाई बेहद बीमार थे शायद। घर की रखवाली के लिए एक बूढ़ी दाई रह गई थी, एक बैल-चरवाह छोकड़ा भी।

बाबू जी के 'शुभ मुहूर्त' पर बड़ा गुस्सा लगा; उसे अपने आदमी पर उतारना भी चाहा। वह गिड़गिड़ाया—मालिक ! इसमें मेरा क्या कुसूर है ? बात सच थी। लेकिन क्या सचाई पर गुस्सा ही नहीं आता ? फिर गुस्से में सचाई-झुठाई की सही-सही पहचान रह ही जाय तो ऐसे गुस्से से तो पैर पड़ना अच्छा हो ! मैंने उसकी सोल-सी मजबूत पोठ पर तीन-चार जूते कस-कस कर जमा दिए। अगर जूता मुँह बाता नज़र नहीं आता, उसकी जान की ख़ैर न थी, लेकिन.....।

इसी वक्त एक खूबसूरत लड़की कंडे की धुआँती आग लिए सामने से गुज़र गई। उधर से दाई हाथ-पाँव धोने के लिए पानी लिए पहुँची। फिर शरबत की ठंडाई से जी की आग बुझाई गई।

अब रात में भात खिलाने की बात थी। दाई ने पड़ोस में कह कर उसका भी झटपट निबटारा कर लिया। मैं थका था, नौंद आ गई। सपने का दौरा शुरू हुआ। मैं पिता जी से गर्म-गर्मे बहस कर रहा था, ज़रूर ही वह मोती-जवाहर जैसी बहस न थी। जब उन्होंने कस-कस कर तमाचे चलाने शुरू किए, नन्द-रानी मेरे बालों को हल्के-हल्के छू-छू कर मुझे जगा रही थी—
“ए ! उठो न। खाने चलो। अम्मा बुला रही हैं।”

उठ बैठने पर मेरे घुँघराले बालों में उँगलियाँ उलझा कर खाट के पास खड़ी हो गई। मैंने आँखें मीच कर पहचाना,—
“तीन ही साल में तू इतनी बड़ी हो गई ?”

“और तुम अपने को न देखो। ढूँठ खजूर की तरह लग रहे हो—इस साल चुपके-चुपके व्याह भी कर लिया !”

“खूब ! तुझे यह सब क्यों कर मालूम हो गया ?”

“तो तुम समझते हो कि सिर्फ़ तुम्हीं पढ़े-लिखे हो ! अब मेरा भी शिशु-प्रमोद ख़तम हो चला, हाँ ! मैं सब ‘आगमजानी’ जानने लगी !”

“हूँ ! अच्छा चल। पहले खिला। क्या-क्या पकाया है !”

कानन

“भूख लगी है न—? बताओ, मैं ‘आगमजानी’ जानती हूँ तो ?”

“हाँ-हाँ, तू क्या नहीं जानती ! लेकिन बता भला, सुसराल कब जायगी ?”

“दुत ! अब चलो जल्द, अम्मा बैठी होगी ।”

नन्दरानी मुश्किल से बारह तेरह साल की होगी । दस-ग्यारह की उम्र में उसका व्याह हुआ था । खाते वक्त उसकी अम्मा से मालूम हुआ—यह तीसरा साल है, सत्तू-संक्रान्ति की रात में उसकी गौने की बिदाई होगी, मुझे कम से कम तब तक वहाँ रहना हो पड़ेगा । मुमकिन है, उस रोज़ तक मेरे मामा भी लौट आएँ ।

हैजे का खयाल कर मैंने नाहीं नही की । नन्दरानी खुश हो गई ।

उसका और उसके पति प्रमोद का नाम जोड़-जोड़ कर खियाँ रात-रात भर गीत गातीं, मूमर खेलतीं । और हम दोनों काफी देर तक सुन-सुन कर हँसते, हँस-हँस कर सुनते । सप्ताह बीतते देर न लगी । आज नन्दरानी सुबह-सुबह रोने लगी, लेकिन ‘राग’ में न रो सकी । मैंने दुपहर में पूछा, तो बताया कि अम्मा रोना सिखला रही थीं ।

मैंने मज़ाक किया—मैं तो लौटा जा रहा था तेरा ऐसा बेसुरा ‘रोदन-राग’ सुन कर । उसने घबरा कर कहा,—“जाओ

नहीं, मैं अभी रोना सीख लेती हूँ, आखिर मुझे पहले रोने का मौका ही कब मिला था जो आज सधा-सीधा राग निकलता !”

सुन कर मुझे ज़ोरों से हँसी आ गई। अब वह फूट-फूट कर रोने लगी। सोचा, “बच्ची है, सुसराल की याद में घबरा रही है। उसके सगे भाई भी नहीं जो जल्द वापस ले आएँगे।” लेकिन जब उसने मेरे हाथ में एक खुला लिफाफा रक्खा, मैं अवाक् हो गया। बात बड़ी बेढंगी थी। वह चिट्ठी उसकी सुसराल की थी। घंटे भर पहले पोस्टमैन दे गया था। उसने कौतुकवश खोल कर उसे पढ़ लिया था। लिखा था,—गौने का दिन बढ़ा दिया जाय। लड़का सख्त बीमार होकर गया के बड़े अस्पताल में पड़ा हुआ है। लेकिन उसकी एक अजीब खाहिश है। वह बहू से एक बार मिलने के लिए बहुत जिद कर रहा है। हालाँकि गौने से पहले बहू सुसराल नहीं जा सकती, लेकिन गया का अस्पताल तो सुसराल का घर नहीं है। उसे लेकर गया में मिलिए।

मैंने कहा,—प्रमोद की बीमारी अच्छी हो जायगी, इसमें रोने की क्या बात है? वह हँसने लगी। उसके रोने का कारण प्रमोद की बीमारी नहीं, माँ-बाप से चुपके पत्र खोलना था। पत्र भी ऐसा नहीं था कि हजम करने की सलाह मैं दे सकता ! आखिर मैं ही झूठ बोला। उसके बाप से बातला दिया, चिट्ठी मैंने खोली थी। खुशी में वह मुझसे लिपट गई। मैंने धीरे-

कानन

धीरे हटाते हुए मना किया,—“अब यह सब ठीक नहीं ।” वह भर्वे तान कर चुप हो रही ।

उसके बाप ने मुझ से सम्मति माँगी । मैंने कहा, लड़की से मिला देने में कोई हानि नहीं । उसकी अम्मा ने भी मेरे ही कहे का समर्थन किया । लेकिन गाँव के बड़े-बूढ़ों की जमायन सर पर आसमान उठाने लगी । मैंने लाख समझाया,—आखिर धर्म और शास्त्र का भी कुछ खास मतलब है । लेकिन वह सब खुद मतलबी थे, मेरा मतलब उन्हें वाहियात मालूम पड़ा । आखिर नन्दरानी के माँ-बाप ही गया गए । नन्दरानी का खयाल रखने के लिए मुझ से कहते गए । उसके घर में और कोई नहीं, ऐसे मौके पर मैंने दिल दुखाना बुरा समझा ।

रात नन्दरानी ने मेरे बिस्तर पर बैठ कर बड़ी गम्भीरता से पूछा—“ललन भैया ! तो अब क्या होगा ?”

मैंने कहा—“तेरा गौना ।”

तीन रोज़ बाद मामा—यानी उसके पिता की चिट्ठी आई—बीमार का हाल अच्छा नहीं, नन्दरानी को लेकर जल्द गया आओ । मैंने दिनभर हैरान होकर कहार ठीक किए, पालकी मँगवाई । शाम चार बजते-बजते जब नन्दरानी चलने को हुई, शोर गुल करते, साथियों के साथ नकछेदी तिवारी पहुँचे । मैं दूसरी जगह का क्रिस्तान उनके गाँव की नाक कटवाने पर तुला हूँ, वगैरः वगैरः बकते-झकते । मुझे बहुत बुरा लगा ।

मैंने कहा, कृपा कर आप लोग जाइए, हम धर्म-वर्म नहीं मानते ।

“तो फिर तुम मानते क्या हो ?”

“कुछ नहीं । आज की दुनिया में कुछ भी मानने लायक नहीं रहा ।”

मैं सारे गाँव का भाँजा था । वहाँ मेरे पैर पुजते थे । कोई ज्यादा बहस नहीं सका । मैंने ऐसे भले मौके को हाथ से निकलने देना अच्छा नहीं समझा । नन्दरानी को खींच कर पालकी में बैठाने लगा ।

लेकिन तबतक तो सब मुझ पर टूट पड़े । नन्दरानी को जबर्दस्ती घर में बंद कर दिया,—जोर-जोर से चिल्लाते हुए, कि हम डंडे के जोर से धर्म की रक्षा करते हैं ।

कमजोर होने के कारण अहिंसा की महिमा का कटु अनुभव करता चुपचाप रह गया ।

दूसरे ही रोज़ उसके माता-पिता आ धमके । मैंने सोचा, नकछेदी नाना की कहानो सुनाऊँ, तो गुल खिले । लेकिन यहाँ तो रोदुन से घर की दीवारें भी द्रवित होने लगी थीं । हाय, अबतक मेरी नन्दरानी विधवा हो चुकी थी ।

रात एकान्त देखकर बड़ी शान्ति से उसने अपना पहला सवाल पूछा—

“ललन भैया ! तो अब क्या होगा ?”

कानन

जवाब में मैंने उसके नए-नए सूने हुए नन्हें-नन्हें हाथों को पकड़ कर अपने में लिपटा लिया। उसने धीरे-धीरे हटते हुए कहा—

“भैया ! उस रोज़ तुम्हीं ने तो कहा था—“अब यह सब अच्छा नहीं !”

मैं उसकी सिन्दूर-पुँछी माँग पर खून के आँसू बरसाने लगा।

फिर दो दिन बाद, मैंने उसके पिताजी के चरण छुए।—
“अब मेरे मामा के जल्द लौटने की उम्मीद नहीं। मैं घर जाता हूँ।”

ज्यों ही नन्दरानी को यह खबर मिली, वह दौड़ी हुई मेरे पास पहुँची।—“क्यों भैया ? भगे क्यों जा रहे हो ? अब तो मैंने अच्छी तरह रोना सीख लिया। क्या अब भी तुम्हें मेरे रोने में राग नहीं मिलता ?”

पण्डित जी

शाम को तम्बाखू की पत्ती खत्म होते देख पण्डित बुद्धिदीन बावले हो गए। वह ब्राह्मण हैं, बिना मांस-मछली के भी एकाध दिन भोजन कर ले सकते हैं। और जितने तगड़े पड़ते हैं, कोई ज़रूरी नहीं कि उस दिन उन्हें कब्जियत हो ही जाय ! लेकिन बगैर तम्बाखू के तो चैन से वह एक घंटा भी नहीं गुज़ार सकते। तो फिर अब क्या हो ?

दिन भर पानी बरसता रहा है। सुरहर नदी छोटी है, इससे क्या ? पहाड़ी होने के कारण आज उसमें कितने ज़ोरों से बाढ़ आई हुई है !

लोग किनारे पर बहार लूट रहे हैं। कुछ, गरीब तैर-तैर कर धार से लकड़ियाँ भी छान रहे हैं। जान की बाजी लगा रखी है बेवकूफों ने,

अह ! हटाइए भी, इनकी जान की कीमत ही कितनी !

बाज़ार उस पार है। इधर इतनी बड़ी बस्ती में तम्बाखू तक की एक छोटी-मोटी दूकान नहीं। यहाँ वाले आदमी हैं या मारवाड़ी ?—

झल्लाते हुए बुद्धिदीन किनारे पर पहुँचते हैं। देखिए, लोग-बाग, उन्हीं को तो प्रणाम कर रहे हैं ! वह सब को हाथ उठा-उठा कर आशीर्वाद प्रदान कर रहे हैं !

“अजी, वह कौन लड़का एक हाथ से छतरी लगाए और दूसरे में कुछ सामान लिए खड़ा तैरता आ रहा है ?”

“जगमोहना है वह !”

“अच्छा-अच्छा, वह नाई-लौंडा।”

“हाँ, पिछले साल उसका बाप मर गया है, घर में माँ और एक विधवा बहन भर है। कम्बख्त किसी की नहीं सुनता। पेड़ की ऊपरी से ऊपरी डाल पर पासी की तरह खर्र-खर्र चढ़ जाता है। और तैरने में तो पूछिए-मत, एकदम कमाल ही करता है।

एक पैसा करीमन साँई ने दे दिया है, बस हँसता हुआ उसका सामान लिए आ रहा है !”

देखते-देखते कुछ-कुछ अँधेरा फैलने लगता है। आसमान में

काले काले बादल छाए हुए हैं। मुमकिन है, फिर पानी बरसे, और इसी तरह दो एक रोज़ तक बाढ़ उमड़ती रहे ! तो फिर बुद्धिदीन का क्या हाल होगा ?

“जगमोहना ! एक बार और हिम्मत कर बहादुर ! तैरने में मज़ा ही मज़ा तो है ! ज़रा पण्डित जी के लिए तम्बाखू ला दे। दुखहरन की दूकान से खूब पुरानी पत्ती देख कर लेना।”

बुद्धिदीन दो पैसे जगमोहना की हथेली पर रख देते हैं। उसकी देह ठंड से सिकुड़ी जा रही है। वह अपने एक साथी-के कंधे से मैला सा अँगोछा लेकर पोंछने लगता है।

—“पण्डित जी ! अब रात हो गई। कल खूब सवेरे ला दूँगा। इस वक्त डर लग रहा है।”

“डर ? मेरे आशीर्वाद के रहते भी डर ? ब्राह्मण का कार्य्य है बेटा ! इसमें आनाकानी करना उचित नहीं।” बुद्धिदीन के स्वर में औरों के गले भी मिल जाते हैं।

करीमन मुसलमान था, एक पैसा इनाम दे दिया या। पर यह तो गाँव के देवता का काम है, छिः-छिः, इसमें इनाम का नाम लेना कितना बड़ा पाप है !

देखते ही देखते जगमोहन उसपार चला जाता है। लोग उसके नटखटपन की शिकायत के साथ-साथ तैरने, पेड़ चढ़ने वगैरह की तारीफ़ करते रहते हैं।

इतने में बिजली कड़कती है। पानी बरसता है। सब अपने-

कानन

अपने घर की राह लेते हैं। बुद्धिदीन दौड़ कर अपने दरवाजे पर पहुँच जाते हैं। फिर बिजली को कड़ी कड़क से कान बंद कर भीतर ठाकुरजी के घर में बैठते हैं।

×

×

×

आधे घंटे बाद। तपेश्वर दौड़ा हुआ उनके पास जाता है।—
“चाचा-चाचा। जगमोहन डूब गया ! आपलोग भाग आए, लेकिन मेरे पास छतरी थी, मैं वहीं खड़ा रह गया। मेरे देखते ही मैं वह हला, तम्बाखू हाथ में लिए हुए था !”

बुद्धिदीन ‘भँगघोटना’ उठाते हैं—“चुप बदमाश ! हाथ में तम्बाखू लिए हुए था !—इतने अँधेरे में तुझे बिल्ली की तरह सब कुछ दिख गया ? साला डूबा, तो डूब जाय ! इतना नटखट है, उसे तो कभी न कभी डूबना ही था ! उफ़, लेकिन मेरे दो पैसे भी ले डूबा ! तुझे बस उसीकी फ़िक्र है !”

“यह लीजिए अपने दो पैसे !”—तपेश्वर अपनी तरफ़ से दे देता है। “लेकिन खबरदार, अगर उस बेचारे को फिर ‘साला’ कहा। यही वाँभून हैं ! जिसके लिए जान तक देदी, वही उसे साला कहता है !”

घृणा से तपेश्वर उधर घूमकर घूरता भी नहीं, चुपचाप बाहर निकल आता है।

लेकिन यह क्या ? दरवाजे पर जगमोहना पंडित जी को पुकार रहा है ? बुद्धिदीन खड़ाऊँ से खटर-खटर करते जल्द-जल्द

बाहर आते हैं। तम्बाखू लेकर उसको पीठ ठोकते हैं। वह ठिठुर कर थर-थर काँप रहा है।

तपेश्वर पूछता है—“तू तो डूब गया था न रे?”

वह बिहँसकर कहता है—“वाह उस्ताद ! मैं क्यों डूबने लगा ? तुम्हीं थे क्या किनारे पर खड़े ? ओह हो,—तभी ? मैं तो डुब्बी मार कर तुम्हें डरा रहा था !”

बुद्धिदीन जोग से हँसे। “सोई कहूँ, ब्राह्मण पण्डित का आशीर्वाद ! यह आज्ञाकारी बालक कभी डूब भी सकता है ?”

तपेश्वर उनकी तरफ़ तिरछी निगाह करता है। उसे लगा,—पण्डित जी उसके पैसे वापिस दे रहे हैं !

लेकिन तबतक तो अमूल्य आशीर्वाद देकर उन्होंने दरवाज़ा बंद कर लिया था।

